भूमण्डलीकरण के दौर का साम्राज्यवाद: परिवर्तन और निरन्तरता के पहलू

- **आनन्द सिंह**

विश्व पूँजीवाद के जिस दौर के हम गवाह हैं उसे अक्सर भूमण्डलीकरण के नाम से सम्बोधित किया जाता है। हालाँकि यह शब्द मौजूदा दौर की अभिलाक्षणिकताओं और विशिष्टता को सटीक ढंग से नहीं अभिव्यक्त करता है, परन्तु चूँकि यह चलन में है इसलिए हम इस आलेख में मौजूदा दौर को इसी नाम से सम्बोधित करेंगे। हमारा ज़ोर इस दौर के नामकरण की बजाय इसकी अभिलाक्षणिकताओं और विशिष्टताओं को इंगित करने पर होगा। भूमण्डलीकरण के इस दौर की अभिलाक्षणिकताओं को अक्सर राष्ट्रीय अर्थव्यवस्थाओं और सामाजिक सम्बन्धों की पारस्परिक निर्भरता के तीव्र होने, दिक्-काल के संकुचित होने, सामाजिक-आर्थिक गतिविधियों और पूँजी के विश्वव्यापी प्रवाह की राह में आने वाली भौगोलिक बाधाओं के क्रमश: दूर होने, अर्थव्यवस्थाओं के बढ़ते वित्तीयकरण और स्थानीय घटनाक्रमों पर वैश्विक कारकों व वैश्विक घटनाक्रमों पर स्थानीय कारकों के बढ़ते प्रभाव, राष्ट्रपारीय निगमों (Transnational Corporations) के बढ़ते वर्चस्व के रूप में देखा जाता है। परन्तु इस दौर की अभिलाक्षणिकताओं और इसकी विशिष्टता को लेकर कोई आम सहमति नहीं है। जहाँ एक छोर पर भूमण्डलीकरण की इस परिघटना को लेनिनकालीन साम्राज्यवाद से बिल्कुल अलग एक युगान्तरकारी परिघटना बताने वाले लोग हैं जो इस प्रक्रिया में निरन्तरता के पहलू की पूरी तरह से अनदेखी करते हैं, वहीं दूसरे छोर पर ऐसे लोग हैं जो आज के इस दौर को लेनिनकालीन साम्राज्यवाद की निरन्तरता पर ज़ोर देते हुए इस दौर में किसी भी गुणात्मक परिवर्तन की सम्भावना को सिरे से खारिज कर देते हैं। कुछ लोग ऐसे भी हैं जो भूमण्डलीकरण को उपनिवेशवाद की वापसी या नव-उपनिवेशवाद के रूप में देखते हैं। इसी प्रकार अन्तरराष्ट्रीय वित्तीय पूँजी व राष्ट्रपारीय निगमों के अस्तित्व और प्रतीतिगत एकाश्मी व एकध्रुवीय विश्व का हवाला देते हुए बहुतेरे बुद्धिजीवी आज के दौर में अन्तरसाम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा को इतिहास की चीज़ बता रहे हैं और इस प्रक्रिया में काउत्स्की के अति-साम्राज्यवाद (Ultra-Imperialism) के सिद्धान्त के भाँति-भाँति के आधुनिक संस्करण प्रस्तुत कर रहे हैं।

भूमण्डलीकरण के सन्दर्भ में जारी बहस और उसकी अभिलाक्षणिकताओं व विशिष्टता पर बात करने से पहले यह चिह्नित करना ज़रूरी है कि जिस रफ़्तार से पूँजी का भूमण्डलीकरण हुआ है उस रफ़्तार से श्रम का भूमण्डलीकरण कदापि नहीं हुआ है। आज से आधी सदी पहले विश्व जनसंख्या में अन्तरराष्ट्रीय प्रवासियों का हिस्सा तीन प्रतिशत के आसपास था, आज भी कमोबेश यह प्रतिशत बरकरार है। अर्थात् भूमण्डलीकरण के दौर में राष्ट्र-राज्यों की सरहदों के आरपार श्रमिकों की आवाजाही में कोई विचारणीय बढ़ोतरी नहीं हुई है। इस दौर में जहाँ पूँजी की आवाजाही अभूतपूर्व रूप से बढ़ी है वहीं श्रम की आवाजाही में क़िस्म- क़िस्म की बाधाएँ खड़ी हुई हैं। उदाहरण के लिए यूरोपीय संघ के ''ब्लैक लिस्ट'' – वे देश जिनके नागरिकों को यूरोपीय संघ में प्रवेश के लिए वीज़ा की आवश्यकता होती है – में 1985 में 70 देश थे जिनकी संख्या आज 130 के आसपास हो चुकी है। ख़ासकर अकुशल और निम्न कुशलता वाले मज़दूरों की राष्ट्र-राज्यों के आर-पार आवाजाही के रास्ते में बाधाएँ लगातार बढ़ती गई हैं जिसका नतीजा अवैध प्रवासन के रूप में सामने आता है।

भूमण्डलीकरण की परिघटना की समझ और इसके ऐतिहासिक महत्व के संदर्भ में पिछले दो दशकों के दौरान अकादमिक हलकों में एक बहस जारी है जिसे भूमण्डलीकरण बहस के नाम से जाना जाता है। इस बहस में तमाम मार्क्सवादी अकादमीशियनों ने भी समय-समय पर हस्तक्षेप किया है, हालाँकि उनके बीच भी इस प्रश्न को लेकर कोई आम सहमति नहीं

है। इस आलेख की सीमा को देखते हुए इस पूरी बहस के विस्तार में जाना तो सम्भव नहीं है, परन्तु हम इस बहस के केन्द्रीय बिन्दुओं को अवश्य चिह्नित करना चाहेंगे और उनपर यथास्थान अपनी टिप्पणी करेंगे।

'भूमण्डलीकरण बहस' में एक केन्द्रीय मुद्दा यह है कि आज जिस दौर में हम रह रहे हैं उसे भूमण्डलीकरण जैसी किसी विशेष अवस्था के रूप में चिह्नित किया जाए या नहीं। जहाँ कुछ अकादमीशियन इसे एक नए युग का सूत्रपात मानते हुए पूँजी संचय व विनिमय के नए तौर-तरीके के रूप में देखते हैं, वहीं दूसरी ओर ऐसे अकादमीशियन हैं जो इसे पूँजी के अन्तरराष्ट्रीयकरण की प्रक्रिया में मात्र परिमाणात्मक बदलाव मानते हैं और वे विश्व पूँजीवाद की संरचना में किसी अहम बदलाव की सम्भावना को खारिज हुए भूमण्डलीकरण को शासक वर्गों का महज़ एक विचारधारात्मक हथकण्डा मानते हैं। बहस का दूसरा मुख्य मुद्दा यह है कि जिसे आज भूमण्डलीकरण कहा जाता है उसकी शुरुआत कब से मानी जाए। कुछ लोग इसे पिछले कुछ दशकों के दौरान उभरी हुई हाल की परिघटना के रूप में देखते हैं तो कुछ इसे पूँजीवाद के जन्म से ही उसकी अन्तर्निहित विशेषता के रूप में प्रस्तुत करते हैं। वहीं कुछ लोग इसकी उत्पत्ति की निशानदेही मानव सभ्यता के जन्मकाल से ही करते हैं। तीसरा केन्द्रीय बिन्दु पूँजी व राज्य के बीच के अन्तर्सम्बन्धों का है। पूँजी के अभूतपूर्व अन्तरराष्ट्रीयकरण के मद्देनज़र पूँजी और राज्य के बीच के सम्बन्ध की यान्त्रिक समझ की वजह से जहाँ एक ओर अधि-राज्य (super-state) की संकल्पना की जा रही है वहीं दूसरी ओर राज्य के स्वरूप में किसी भी प्रकार के परिवर्तन की सम्भावना को सिरे से खारिज कर दिया जाता है। इसी से जुड़ा हुआ मुद्दा भूमण्डलीकरण के दौर में राष्ट्र-राज्यों की भूमिका से सम्बन्धित है। इस दौर में राष्ट्रपारीय निगमों के विस्तार के मद्देनज़र कुछ अकादमीशियन एक राष्ट्रपारीय पूँजीपति वर्ग और यहाँ तक कि राष्ट्रपारीय राज्य के अस्तित्व की बात करते हैं जिनकी जड़ें किसी एक राष्ट्र-राज्य में नहीं देखी जा सकती हैं। भूमण्डलीकरण की परिघटना से सम्बन्धित इन अहम मुद्दों पर हम अपनी बात यथास्थान रखेंगे, परन्तु उससे पहले हम सकारात्मक तौर पर इस परिघटना की अपनी समझ प्रस्तुत करना चाहेंगे।

भूमण्डलीकरण की मार्क्सवादी संकल्पना

मार्क्सवाद हमें किसी भी परिघटना को ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया में अथवा दिक्-काल में अवस्थित करके द्वंद्वात्मक पद्धति का इस्तेमाल करते हुए उस परिघटना में अन्तर्निहित परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों के बीच के संघर्ष के रूप में समझने की शिक्षा देता है। भूमण्डलीकरण पर चली बहस से उपजे विभ्रमों का मूल कारण ऐतिहासिक भौतिकवाद की इसी द्वंद्वात्मक पद्धति का अभाव है। ग़ैर-द्वंद्वात्मक और अनैतिहासिक पद्धति अपनाने की वजह से तमाम अकादमीशियन अभिकेन्द्रीय व अपकेन्द्रीय (Centripetal and Centrifugal) प्रवृत्तियों के द्वंद्वात्मक संघर्ष की बजाय इनमें से किसी एक प्रवृत्ति पर एकरेखीय रूप से बल देते हैं और चयनात्मक ढंग से तथ्यों को चुनकर अपने सूत्रीकरण के पक्ष में आँकड़े देते हैं। इसी प्रकार परिवर्तन व निरन्तरता के द्वंद्व को भी सही ढंग से न समझने की वजह से भूमण्डलीकरण की परिघटना को या तो इतिहासेतर बना दिया जाता है, या फिर इसकी विशिष्टता से ही इनकार कर दिया जाता है। विभ्रमों के कोहरे को छाँटने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि भूमण्डलीकरण की परिघटना को समझने के लिए हम मार्क्सवाद की द्वंद्वात्मक पद्धति का इस्तेमाल करें।

इस बात पर कमोबेश आम सहमति है कि मौजूदा दौर में राष्ट्र-राज्यों की सीमा के आर-पार पूँजी की आवाजाही अभूतपूर्व है। लेकिन यह बात भी सच है कि पूँजी के अन्तरराष्ट्रीयकरण की प्रवृत्ति तो पूँजीवाद के जन्मकाल से ही मौजूद रही है। मार्क्स ने भी 'कम्युनिस्ट घोषणापत्र' सहित कई रचनाओं में पूँजी के चरित्र में अन्तर्निहित विस्तारवादी प्रवृत्ति का शानदार वर्णन किया था।

ऐसे में यह सवाल उठना लाज़िमी है कि जब पूँजीवाद के जन्मकाल से ही पूँजी का अन्तरराष्ट्रीयकरण होता आया है तो फिर भूमण्डलीकरण के युग में हो रहे पूँजी के अन्तरराष्ट्रीयकरण में आखिर नया क्या है? क्या यह महज़ परिमाणात्मक बदलाव है? या फिर इसकी अपनी कुछ विशिष्टताएँ हैं?

भूमण्डलीकरण जैसी किसी परिघटना की मौजूदगी पर संशय जताने वाले बुद्धिजीवियों (मसलन हर्स्ट व थॉमसन) की यह बात तो ठीक है कि शासक वर्गों की नुमाइंदगी करने वाले भूमण्डलीकरण के अतिउत्साही समर्थक पूँजी के अन्तरराष्ट्रीयकरण को बढ़ाचढ़ाकर कुछ ऐसी तस्वीर प्रस्तुत करते हैं जिसमें राष्ट्र राज्यों की सरहदों का कोई मायने नहीं रह गया है और विश्व अर्थव्यवस्था अन्तर्विरोधों व असमनताओं से मुक्त एक सामंजस्यपूर्ण, अविभाज्य एकल इकाई जैसी वैश्विक पूँजीवादी व्यवस्था की दिशा में प्रगति कर रही है। इस रूप में वाकई नव-क्लासिकीय अर्थशास्त्री व विचारक भूमण्डलीकरण की परिघटना का इस्तेमाल साम्राज्यवाद के अन्तर्विरोधों को धूमिल करने वाले एक वैचारिक हथकण्डे के रूप में करते हैं। परन्तु भूमण्डलीकरण पर संशय जताने वाले बुद्धिजीवी स्वयं उन परिस्थितियों का ठोस अध्ययन नहीं करते जिन्होंने शासक वर्गों के हाथों में इस वैचारिक उपकरण की ज़मीन तैयार की है। वे मौजूदा दौर में हो रहे पूँजी के अन्तरराष्ट्रीयकरण की विशिष्टता समझने की जहमत नहीं उठाते।

पूँजी के अन्तरराष्ट्रीयकरण की ऐतिहासिक प्रक्रिया में भूमण्डलीकरण की विशिष्टता को समझने के लिए हम 'पूँजी' खण्ड 2 में मार्क्स द्वारा इस्तेमाल की गई अवधारणा 'पूँजी के परिपथ' का सहारा ले सकते हैं। मार्क्स पूँजी को स्थिर रूप में देखने की बजाय उसे उसके प्रवाह में देखते हैं और बताते हैं कि प्रवाह की प्रक्रिया में पूँजी तीन अलग-अलग रूप धारण करती है और समय के साथ उसका एक रूप से दूसरे रूप में रूपान्तरण होता है। मार्क्स ने इन तीन रूपों को मुद्रा पूँजी, उत्पादक पूँजी और माल पूँजी की संज्ञा दी थी। इनमें पहला और तीसरा रूप परिचलन की प्रक्रिया में उद्घाटित होता है जबकि दूसरा रूप उत्पादन के क्षेत्र में। पूँजी के इन तीनों रूपों की चर्चा करते हुए मार्क्स कहते हैं:

''सामान्य तौर पर यह बात ग़ौर करनी चाहिए (...) कि अर्थशास्त्रियों में न सिर्फ़ इसको भूलने की प्रवृत्ति होती है कि किसी व्यवसाय में आवश्यक पूँजी क्रमशः मुद्रा पूँजी, उत्पादक पूँजी और माल पूँजी के तीन रूपों से होकर लगातार गुज़रती रहती है, बल्कि उनमें यह भी भूलने की प्रवृत्ति होती है कि पूँजी के अलग-अलग हिस्सों में ये रूप एक-दूसरे के साथ हमेशा से ही अस्तित्वमान होते हैं, भले ही इन हिस्सों की सापेक्ष मात्रा निरन्तर बदलती रहती है।''
(मार्क्स, पूँजी खण्ड 2)(अनुवाद हमारा)

पूँजी के परिपथ को परिभाषित करते हुए मार्क्स कहते हैं:

''आइए अब समूची गति – M - C ... P ... C' - M' (...) – पर ग़ौर करते हैं। यहाँ पूँजी एक मूल्य के रूप में प्रकट होती है जो आपस में जुड़े हुए और एक-दूसरे को निर्धारित करने वाले रूपान्तरणों की श्रृंखला से होकर गुज़रती है, रूपान्तरणों की ऐसी श्रृंखला जो कुल प्रक्रिया के विभिन्न दौरों या अवस्थाओं का निर्माण करती है। इन अवस्थाओं में से दो परिचलन के क्षेत्र की होती हैं और एक उत्पादन के क्षेत्र की। इन अवस्थाओं में से प्रत्येक में पूँजी का मूल्य एक अलग और विशेष प्रकार्य के अनुरूप अलग रूप में पाया जाता है।

इस गति के दौरान आरम्भिक मूल्य न सिर्फ़ स्वयं को क़ायम रखता है, बल्कि वह वृद्धि भी करता है, अपना परिमाण भी बढ़ाता है। अन्ततः, अन्तिम अवस्था में, वह उसी रूप में वापस लौट आती है जिसमें वह समूची प्रक्रिया की शुरुआत में प्रकट हुई थी। इस प्रकार यह समूची प्रक्रिया एक परिपथ है।''

(मार्क्स, पूँजी खण्ड 2)(अनुवाद हमारा)

परिचलन के क्षेत्र और उत्पादन के क्षेत्र के बीच पूँजी के सतत् प्रवाह को निम्न रूप में प्रदर्शित किया जा सकता है।

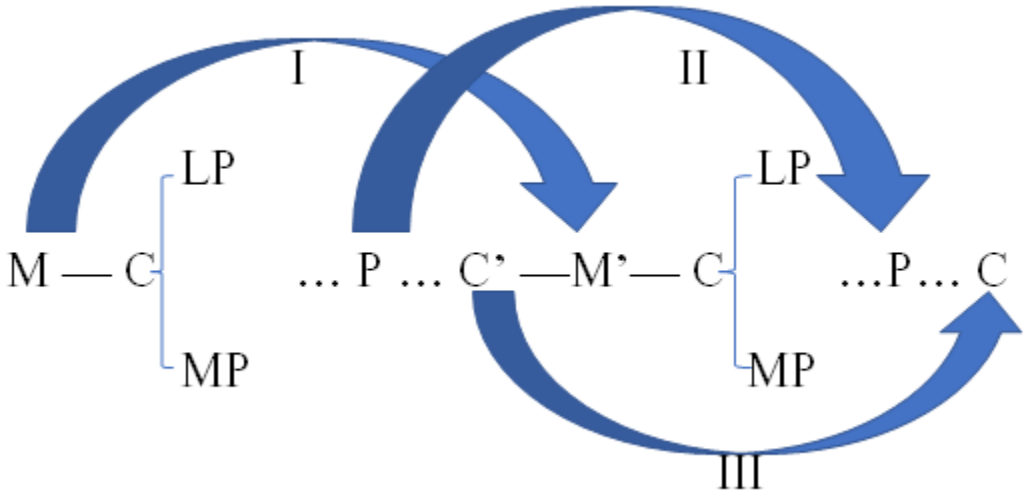

M: मुद्रा पूँजी; C: माल पूँजी; LP: श्रम शक्ति; MP: उत्पादन के साधन; P: उत्पादक पूँजी

I – मुद्रा पूँजी का परिपथ; II – उत्पादक पूँजी का परिपथ; III – माल पूँजी का परिपथ

उत्पादन प्रक्रिया के अन्त में उत्पादक पूँजी माल का रूप धारण करती है (P…C') जिसका मूल्य उत्पादन की प्रक्रिया की शुरुआत में लगी माल पूँजी के मूल्य से अधिक होता है (C'=C+ΔC)। इसी तरह माल को बेचने से प्राप्त मुद्रा का मूल्य उत्पादन की प्रक्रिया के प्रारंभ में लगी मुद्रा पूँजी के मूल्य से अधिक होता है (M'=M+ΔM)। चूँकि आम तौर पर परिचलन एक सतत प्रक्रिया होती है इसलिए सामाजिक पूँजी के समूचे परिपथ को तीन विभिन्न परिपथों में विभाजित किया जा सकता है – मुद्रा पूँजी का परिपथ, उत्पादक पूँजी का परिपथ और माल पूँजी का परिपथ।

1977 में प्रस्तुत अपने शोध में क्रिश्चियन पैलोआ ने पहली बार पूँजी के अन्तरराष्ट्रीयकरण की प्रक्रिया को उसकी ऐतिहासिकता में अवस्थित करके इन तीन परिपथों के अन्तरराष्ट्रीयकरण के रूप में दिखाया जो आज भूमण्डलीकरण की परिघटना की विशिष्टता को समझने के लिए उपयोगी है, हालाँकि उसकी अपनी सीमाएँ भी हैं जिन पर हम आगे विचार करेंगे। पैलोआ ने पूँजी के अन्तरराष्ट्रीयकरण की गतिकी को उपरोक्त तीन परिपथों की अवधारणा में अवस्थित करके दिखाया कि इन तीन परिपथों का अन्तरराष्ट्रीयकरण एक साथ न होकर इतिहास के अलग-अलग दौरों में हुआ। ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया में व्यापारिक पूँजी ने सबसे पहले 'टेरिटोरियल' सरहदों को पार किया। इसे पीछे प्रेरक शक्ति मालों को बेचने के लिए नए बाज़ार

की खोज थी। व्यापारिक पूँजी के प्रभुत्व वाले इस दौर में माल पूँजी के परिपथ का अन्तरराष्ट्रीयकरण हुआ जिसकी वजह से पूँजीवाद ने तमाम प्राक्-पूँजीवादी सामाजिक संरचनाओं को अपनी ज़द में ले लिया। इस दौर में औपनिवेशिक व्यापार के ज़रिये आदिम पूँजी संचय हुआ। इस प्रकार सबसे पहले माल पूँजी के परिपथ का अन्तरराष्ट्रीयकरण हुआ। मार्क्स ने अपनी रचनाओं में माल पूँजी के अन्तरराष्ट्रीयकरण की इस परिघटना का शानदार वर्णन किया है। 19वीं सदी के मध्य तक आते-आते औद्योगिक पूँजीपति वर्ग ने निर्णायक रूप से वाणिज्यिक पूँजी पर अपना प्रभुत्व कायम कर लिया था। इसके बाद औपनिवेशिक देशों के पूँजीपति वर्ग ने उपनिवेशों में सीमित रूप से निवेश करना शुरू किया, मसलन रेलवे व खदानों में निवेश। यही वह दौर था जब आधुनिक क्रेडिट प्रणाली का उद्भव हुआ। 19वीं सदी के अन्तिम चतुर्थांश तक आते-आते पूँजी के बढ़ते सान्द्रण और केन्द्रीयकरण के फलस्वरूप पूँजीवाद स्वतंत्र प्रतियोगिता वाले युग से आगे निकलकर इज़ारेदारी के युग में प्रवेश कर चुका था जिसे लेनिन ने साम्राज्यवाद की संज्ञा दी। इसी दौर में बैंकिंग पूँजी और औद्योगिक पूँजी के विलय से वित्तीय पूँजी का जन्म हुआ। लेनिन ने साम्राज्यवाद की एक प्रमुख चारित्रिक अभिलाक्षणिकता पूँजी का निर्यात बताई थी जिसका कारण राष्ट्र-राज्यों की सीमाओ के भीतर पूँजी का अतिसंचय था। यह और कुछ नहीं बल्कि मुद्रा पूँजी के परिपथ का अन्तरराष्ट्रीयकरण था। मुद्रा पूँजी के परिपथ के अन्तरराष्ट्रीयकरण में औपनिवेशिक सत्ताओं द्वारा अपने-अपने उपनिवेशों में दिए गए क़र्ज़ की प्रमुख भूमिका रही। इस प्रकार बीसवीं सदी के प्रारम्भ तक परिचलन के क्षेत्र के दोनों परिपथों (माल तथा मुद्रा के परिपथ) का अन्तरराष्ट्रीयकरण हो चुका था।

हालाँकि सीमित अर्थों में उत्पादक पूँजी के परिपथ के अन्तरराष्ट्रीयकरण पहले ही हो चुकी थी लेकिन पैलोआ की दलील के अनुसार की उत्पादन के क्षेत्र (उत्पादक पूँजी के परिपथ) के अन्तरराष्ट्रीयकरण की प्रक्रिया ने द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद गति पकड़ी। उत्पादक पूँजी के परिपथ के अन्तरराष्ट्रीयकरण के फलस्वरूप उत्पादन प्रक्रिया को कई हिस्सों में बाँटकर किसी एक देश की बजाय कई देशों में पूरा करना मुमकिन हुआ है। 1970 के दशक के पूँजीवादी संकट के बाद इस प्रक्रिया को नया संवेग मिला। परिवहन की तकनीकों में हुए नवोन्मेषों और संचार व सूचना प्रौद्योगिकी में चमत्कारिक बदलावों ने उत्पादक पूँजी के परिपथ के अन्तरराष्ट्रीयकरण की रफ़्तार तेज़ करने में बेहद महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। मार्क्स के शब्दों में कहा जाए तो परिवहन, संचार व सूचना प्रौद्योगिकी में आए क्रान्तिकारी बदलावों ने काल के ज़रिये भौगोलिक दिक् का ख़ात्मा (annihilation of space through time) कर दिया। उत्पादक पूँजी के परिपथ के अन्तरराष्ट्रीयकरण के तेज़ होने के साथ ही साथ राष्ट्रपारीय निगमों की संख्या में ज़बर्दस्त बढ़ोतरी देखने में आई। 1970 के दशक के पूँजीवादी संकट के बाद जहाँ एक ओर वित्तीय उपकरणों के ज़रिये सट्टेबाज पूँजी के प्रवाह में अभूतपूर्व तेज़ी देखने में आई वहीं दूसरी ओर उत्पादक पूँजी के परिपथ का अन्तरराष्ट्रीयकरण भी तेज़ रफ़्तार से आगे बढ़ा।

पूँजी के परिपथों के अन्तरराष्ट्रीयकरण की तीन अवस्थाओं को दर्शाने वाला पैलोआ का उपरोक्त मॉडल प्रथमदृष्टया तार्किक प्रतीत होता है और उससे भूमण्डलीकरण के दौर की इस विशिष्टता को समझने में मदद मिलती है कि इस दौर में न सिर्फ़ माल पूँजी और मुद्रा पूँजी के परिपथ का अन्तरराष्ट्रीयकरण हुआ है बल्कि उत्पादक पूँजी के परिपथ का अन्तरराष्ट्रीयकरण अभूतपूर्व गति से आगे बढ़ा है। लेकिन पूँजी के तीनों रूपों के परिपथ के विस्तार के बीच जिस प्रकार की अनमनीय विभाजक रेखा पैलोआ ने खींची है वह बहुत यान्त्रिक है। पूँजी की गति को और जिस रूप में वह तीन रूपों के परिपथ में अपने आपको अभिव्यक्त करती है उसमें समकालिकता और क्रमबद्धता (Simulataneity and sequence) दोनों के ही तत्व होते हैं और

इसलिए माल पूँजी के परिपथ का अन्तरराष्ट्रीयकरण एक हद तक मुद्रा पूँजी व उत्पादक पूँजी के परिपथों के अन्तरराष्ट्रीयकरण और मुद्रा पूँजी के परिपथ का अन्तरराष्ट्रीयकरण एक हद तक उत्पादक पूँजी के परिपथ के अन्तरराष्ट्रीयकरण के बिना सम्भव ही नहीं है। इसलिए वास्तव में पूँजी के अन्तरराष्ट्रीयकरण की प्रक्रिया कहीं ज़्यादा जटिल रही है और तीनों परिपथों के अन्तरराष्ट्रीयकरण की प्रक्रियाओं के बीच अतिच्छादन (Overlapping) भी रहा है। पैलोआ का स्कीमा इस जटिल प्रक्रिया को सरलीकृत ढंग से पेश करता है। साथ ही यह भी ग़ौरतलब है कि चूँकि श्रमशक्ति उत्पादक पूँजी का अहम हिस्सा है और चूँकि श्रम की बेरोकटोक आवाजाही में बाधाएँ बढ़ती जा रही हैं इसलिए भूमण्डलीकरण के दौर में भी उत्पादक पूँजी के अन्तरराष्ट्रीयकरण की सीमाएँ बनी हुई हैं और कई मायनों में वे सीमाएँ सुदृढ़ हो रही हैं। दूसरे शब्दों में उत्पादन का भूमण्डलीकरण या अन्तरराष्ट्रीयकरण और उत्पादक पूँजी के परिपथ का अन्तरराष्ट्रीयकरण एक ही चीज़ नहीं है। आज उत्पदन के अन्तरराष्ट्रीयकरण पर कोई संदेह नहीं किया जा सकता, लेकिन उत्पादक पूँजी के परिपथ के अन्तरराष्ट्रीयकरण के तर्क की सीमाएँ स्पष्ट तौर पर देखी जा सकती हैं।

भूमण्डलीकरण के दौर की अभिलाक्षणिकताओं पर हम आगे विस्तार से बात करेंगे, परन्तु उससे पहले द्वितीय विश्वयुद्धोत्तर काल में पूँजीवाद के इतिहास पर एक सरसरी नज़र दौड़ानी ज़रूरी है।

द्वितीय विश्वयुद्धोत्तर काल के पूँजीवाद के इतिहास का घटनाक्रम

ऊपर हम देख चुके हैं कि किस प्रकार 19वीं सदी के अन्तिम दशकों में पूँजीवाद ने स्वतंत्र प्रतियोगिता की अवस्था से इज़ारेदारी की अवस्था में प्रवेश किया जिसे लेनिन ने साम्राज्यवाद की संज्ञा दी। लेनिन का साम्राज्यवाद का सिद्धान्त द्वितीय विश्वयुद्ध तक के कालखण्ड को समझने के लिए बेहद सटीक और सांगोपांग व्याख्या करता है। इस दौर की प्रमुख परिघटनाएँ थीं तीखी अन्तरसाम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा, हथियारों की होड़, दो विश्व युद्धों का घटित होना, पहली समाजवादी क्रान्ति, महामन्दी, फ़ासीवाद का उभार आदि। परन्तु द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद विश्व आर्थिक व राजनीतिक पटल पर घटित हुई कुछ बेहद महत्वपूर्ण घटनाओं के साथ ही साथ पूँजीवाद की संरचना और संचय की प्रणाली में कुछ बेहद अहम बदलाव हुए जिनकी कल्पना करना लेनिन के दौर में मुश्किल था। इन बदलावों के बाद आज भूमण्डलीकरण के मौजूदा दौर में पूँजीवाद का जो स्वरूप हमारे सामने है उसकी बुनियादी अभिलाक्षणिकताओं की व्याख्या करने में तो लेनिन का सिद्धान्त सक्षम है, परन्तु इस दौर की विशिष्टताओं को समझे बग़ैर भूमण्डलीकरण के दौर में सर्वहारा क्रान्ति की रणनीति और आम रणकौशल नहीं बनाया जा सकता है। इसके लिए पहले हमें द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद के पूँजीवाद के इतिहास के कुछ घटनाक्रम पर एक सरसरी नज़र दौड़ानी होगी। आज के साम्राज्यवाद की विशिष्टता को समझने के लिए द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद के पूँजीवाद के इतिहास को मोटे तौर पर दो चरणों में बाँटा जा सकता है:

1) द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद से लेकर 1970 के दशक की शुरुआत तक का दौर (पूँजीवाद का स्वर्णिम युग)

2) 1970 के दशक से अब तक का दौर (नवउदारवादी भूमण्डलीकरण का दौर)

1) द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद से लेकर 1970 के दशक की शुरुआत तक का दौर (पूँजीवाद का स्वर्णिम युग)

1939 से 1945 तक चला द्वितीय विश्वयुद्ध चूँकि यूरोप की सरज़मीं पर लड़ा गया था, इसलिए उसकी विभीषिका से समूचा यूरोप तबाह हो गया था, जबकि अमेरिका को कोई ख़ास नुक़सान नहीं पहुँचा था। युद्ध के बाद अमेरिका विश्व पूँजीवाद का नया चौधरी बना। उसके बाद से 1970 के दशक के आरम्भ तक का दौर पूँजीवाद के इतिहास में अभूतपूर्व दौर था जो निवेश, मुनाफ़े और उत्पादन की बेहद ऊँची दरों, कम महँगाई दर और सबसे बड़ी बात बहुत कम बेरोज़गारी दर के लिए जाना जाता है। युद्ध से हुए नुक़सान की भरपाई, युद्ध के दौरान आम उपभोक्ता सामग्रियों के उत्पादन में हुई कटौती से पैदा हुए अभाव की पूर्ति, युद्ध के लिए विकसित तकनोलॉजी के युद्धेतर उत्पादनों में इस्तेमाल और ऊष्ण व शीत युद्धों की नई श्रृंखला ने पचास व साठ के दशक में पूँजी संचय के लिए बेहद अनुकूल पिरस्थितियाँ पैदा की थीं। यही वजह है कि इस दौर को पूँजीवाद का **स्वर्णिम युग** भी कहा जाता है। युद्ध से तबाह हुए यूरोप के पुनर्निर्माण के लिए आई मार्शल योजना (यूरोपियन रिकवरी प्रोग्राम) के तहत यूरोपीय देशों में निवेश करके अमेरिकी कम्पनियों ने ज़बर्दस्त मुनाफ़ा कमाया।

विश्व पूँजीवाद के इस नये दौर में अपनी चौधराहट को सांस्थानिक जामा पहनाने के लिए और विश्व व्यापार में स्थिरता लाने के मक़सद से अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर वित्तीय प्रबंधन के मद्देनज़र अमेरिकी साम्राज्यवादियों ने 1944 में **ब्रेटन वुड्स सम्मेलन** आयोजित करने की पहल की। इस सम्मेलन में 44 मित्र राष्ट्र शामिल हुए जिन्होंने निम्न समझौतों पर दस्तख़त किये:

I. विनिमय दर की स्थिरता और डॉलर-गोल्ड स्टैंडर्ड की स्थापना

इस स्टैंडर्ड के तहत:

a. स्टर्लिंग की बजाय अमेरिकी डॉलर विश्व बाज़ार की प्रभावी मुद्रा बनकर उभरा। सभी देशों की मुद्राओं को अमेरिकी डॉलर के सापेक्ष तय करने का निर्णय लिया गया।
b. अमेरिकी डॉलर की कीमत 35 डॉलर प्रति औंस सोना रखी गई और अमेरिका ने पूरी दुनिया से डॉलर को इस दर पर खरीदने का वायदा किया। इस तरह डॉलर सोने के समतुल्य माना जाने लगा।

II. विश्व व्यापार में देशों को अस्थायी भुगतान संतुलन के संकट से निपटने में सहायता के लिए **अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष (आईएमएफ़)** का गठन

III. मुक्त व्यापार से संबंधित समझौता

ब्रेटन वुड्स सम्मेलन के दौरान ही अमेरिका ने विश्व व्यापार के उदारीकरण के लिए और दुनिया के विभिन्न बाज़ारों में अमेरिकी मालों की बेरोकटोक आवाजाही सुनिश्चित करने के मक़सद से जनरल एग्रीमेंट ऑन ट्रेड एंड टैरिफ़ (गैट) का प्रस्ताव रखा जिस पर 1947 में हस्ताक्षर किये गए। 1995 में गैट विश्व व्यापार संगठन (डब्ल्यू टी ओ) में रूपान्तरित हो गया।

IV. युद्ध के बाद पुनर्निर्माण की कार्रवाइयों और उत्तर-औपनिवेशिक देशों में पूँजीवादी विकास की ज़मीन तैयार करने के लिए **विश्व बैंक की स्थापना।** कहने की ज़रूरत नहीं कि उत्तर-औपनिवेशिक देशों में पूँजीवादी विकास की ज़मीन तैयार करने के पीछे अमेरिकी साम्राज्यवाद की कोई सदाशयता नहीं बल्कि अपने विशिष्ट साम्राज्यवादी हितों को आगे बढ़ाना था।

ब्रेटन वुड्स की यह व्यवस्था विश्व बाज़ार में अमेरिकी डॉलर की साख़ पर टिकी हुई थी जो सीधे तौर पर अमेरिकी अर्थव्यवस्था की सेहत से जुड़ी थी। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद के दो दशकों तक अमेरिकी अर्थव्यवस्था में असाधारण तेज़ी देखने को मिली जिसकी वजह से अमेरिकी डॉलर की साख़ बरकरार रही। लेकिन जिस दौरान अमेरिकी अर्थव्यवस्था कुलांचे मार रही थी, ठीक उसी समय ऐसी परिस्थितियाँ भी तैयार हो रही थीं जो भविष्य में उसकी रफ़्तार को सुस्त करने वाली थीं। श्रम की बजाय आधुनिक मशीनरी और तकनीकों पर सापेक्षिक रूप से अधिक निवेश करने की वजह से मुनाफ़े की गिरती दर की प्रवृत्ति अमेरिकी अर्थव्यवस्था पर भी हावी हो रही थी। इसके अतिरिक्त अमेरिकी अर्थव्यवस्था को संकट की ओर ले जाने वाला दूसरा कारण यूरोपीय देशों और जापान के मुक़ाबले अमेरिका में श्रम की उत्पादकता का कम होना था। अमेरिका के भीतर पूँजी के अतिशय सान्द्रण और केन्द्रीयकरण (Concentration and Centralisation) की वजह से अमेरिकी बहुराष्ट्रीय निगमों ने यूरोप में बड़े पैमाने पर पूँजी का निर्यात करना शुरू कर दिया था। विश्वयुद्ध के बाद यूरोपीय देशों और जापान को फिर से सँभलने में ज़्यादा समय नहीं लगा और जल्द ही वे अमेरिका को टक्कर देने लगे (ख़ासकर स्टील और ऑटो क्षेत्र में)। इन यूरोपीय देशों (ख़ासकर जर्मनी) और जापान में श्रम की उत्पादकता अमेरिका की तुलना में बढ़ रही थी। इसके अतिरिक्त अमेरिका के बढ़ता व्यापार घाटा और सोने के उसके भण्डार में तेज़ी से आ रही गिरावट से भी अन्तरराष्ट्रीय बाज़ार में अमेरिकी डॉलर की साख़ कम हो रही थी। विदेशों में लगी अमेरिकी पूँजी पर मुनाफ़े की गिरती दर की वजह से उन देशों में डॉलर रिज़र्व अमेरिका के ऋण में तब्दील होने लगे। कल्याणकारी राज्य के कीन्सियाई नुस्ख़े लागू करने से होने वाला ख़र्च और वियतनाम युद्ध में होने वाला खर्च अमेरिकी सरकारी ख़जाने को सोख रहा था। ये सबकुछ डॉलर के अवमूल्यन का सूचक था, लेकिन चूँकि डॉलर-गोल्ड स्टैंडर्ड के तहत डॉलर की कीमत अपरिवर्तनीय थी, इसलिए तमाम यूरोपीय देशों में डॉलर की कीमत को लेकर असंतोष बढ़ रहा था। इन परिस्थितियों की वजह से 1960 के दशक के अन्त तक आते-आते विश्व अर्थव्यवस्था में तरलता का संकट पैदा हो चुका था जिसकी वजह से अन्य साम्राज्यवादी देशों की सरकारें अमेरिकी डॉलर के प्रभुत्व को मानने से इनकार करने लगी थीं। फ्रांस जैसे कुछ देशों की सरकारें डॉलर को सोने में तब्दील करने लगी थीं। अत: डॉलर-गोल्ड स्टैंडर्ड बेमानी साबित होने लगा था। ये वो परिस्थितियाँ थीं जो 1971 में डॉलर-गोल्ड स्टैंडर्ड के पतन का कारण बनीं। स्वयं अमेरिकी सरकार को मौद्रिक लचीलेपन की आवश्यकता थी क्योंकि संकट से निपटने के लिए तात्कालिक तौर पर मौद्रिक क़दमों (Monetary measures) को उठाने की ज़रूरत थी जो डॉलर-गोल्ड स्टैंडर्ड के रहते सम्भव नहीं था। नतीजतन, तयशुदा विनिमय दर का स्थान मुक्त-विचरण करने वाली (free-floating) मुद्राओं ने ले लिया। इन घटनाक्रमों की वजह से 1970 के दशक में अमेरिकी अर्थव्यवस्था एक विचित्र स्थिति में पहुँच गई जिसमें एक ओर भयंकर मन्दी और बेरोज़गारी का माहौल था तो दूसरी ओर महँगाई तेज़ी से बढ़ रही थी। अर्थशास्त्री इस विचित्र परिस्थिति को **स्टैगफ्लेशन** का नाम देते हैं। चूँकि विश्व की तमाम अर्थव्यवस्थाएँ अमेरिकी अर्थव्यवस्था पर निर्भर थीं, इसलिए जल्द ही समूचा पूँजीवादी विश्व मन्दी की चपेट में आ गया। 1973 में तेल निर्यातक देशों द्वारा तेल की आपूर्ति में कटौती की घोषणा के बाद यह संकट और गहरा गया। तेल की कीमतें आसमान छूने लगीं। चूँकि तेल का व्यापार मुख्यत: डॉलर में होता था इसलिए तेल-प्रतिबंध के बाद अरब देशों ने तेल के निर्यात से डॉलर के रूप में अकूत मुनाफ़ा कमाया जिसे **पेट्रोडॉलर** के नाम से जाना जाता है। ये पेट्रोडॉलर बड़ी मात्रा में अमेरिका में ट्रेज़री बिलों तथा अमेरिकी और यूरोपीय बैंकों के डिपॉज़िट के रूप में जमा हुए जिसकी वजह से अति संचय के संकट ने विकराल रूप धारण कर लिया।

2) नवउदारवादी भूमण्डलीकरण का दौर (1980 के दशक से लेकर आज तक जारी)

1971 में डॉलर-गोल्ड स्टैंडर्ड के पतन और 1973 के तेल संकट के बाद अमेरिका सहित समूची विश्व पूँजीवादी व्यवस्था के समक्ष जो संकट उत्पन्न हुआ उससे यह साबित हो गया कि राज्य के हस्तक्षेप के ज़रिये अर्थव्यवस्था में माँग का प्रबंधन एवं विश्व व्यापार में मौद्रिक स्थिरता लाने के लिए गोल्ड स्टैंडर्ड के कीन्सियाई नुस्ख़े पूँजीवाद के ढाँचागत संकट को हमेशा के लिए समाप्त नहीं कर सकते। उन नुस्ख़ों ने द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद की विशेष परिस्थिति में विश्व पूँजीवाद को बस थोड़ी संजीवनी देने का काम किया था। लेकिन इस नुस्ख़ों के अपने अन्तर्विरोधों की परिणति एक नए संकट के रूप में हुई जिससे पूँजीवाद आज तक नहीं उबर पाया है। 1970 के दशक के पूँजीवादी संकट से निपटने के लिए तमाम पूँजीवादी विचारक-चिंतक और अर्थशास्त्री कीन्सियाई नुस्ख़ों को कचरापेटी में डालकर पूँजी संचय और विनिमय की वैकल्पिक रणनीति पर विचार करने लगे। मुनाफ़े की गिरती दर की वजह से अमेरिका के भीतर निवेश की संभावनाओं के लाभप्रद निवेश की सम्भावना अधिकाधिक कम होते जाने जाने की सूरत में इज़ारेदार निगमों के सामने बस यही रास्ता बचा था कि वे अपनी पूँजी को दुनिया भर के बाज़ारों में फैला दें। इसके लिए राष्ट्र राज्यों द्वारा पूँजी की आवाजाही पर लगाई गई पाबंदियों को ख़त्म करना और श्रमिकों के अधिकारों को छीनना ज़रूरी था। समूची दुनिया में पूँजी की बेरोकटोक आवाजाही सुनिश्चित करने के लिए और श्रम बाज़ार में श्रमशक्ति के मूल्य को कम करने के मक़सद से श्रम अधिकारों को छीनने के लिए पूँजीवादी अर्थशास्त्रियों और चिन्तकों ने पूँजीपति वर्ग को जो नीतियाँ सुझाईं वो नवउदारवादी नीतियों के नाम से जानी जाती हैं। इस प्रकार साम्राज्यवाद के एक नये दौर - **नवउदारवादी भूमण्डलीकरण** के दौर की शुरुआत हुई। नवउदारवादी भूमण्डलीकरण की नीतियों के प्रमुख तत्व थे निजीकरण, उदारीकरण, पूँजी के वैश्विक प्रवाह से सभी बाधाओं को हटाते जाना, राज्य के सार्वजनिक व्यय में भारी कटौती करना, श्रम कानूनों को ढीला करते हुए श्रम बाज़ार को लचीला बनाना, प्रत्यक्ष विदेशी निवेश की खुली छूट देना, लचीली विनिमय दरों की स्थापना करना ताकि वित्तीय पूँजी का विनियमन समाप्त हो सके, निम्न ब्याज़ दरें आदि। इन नीतियों को पुरज़ोर तरीके से लागू करने की शुरुआत 1980 के दशक की शुरुआत में अमेरिका के राष्ट्रपति रोनाल्ड रीगन और ब्रिटेन की प्रधानमंत्री मारग्रेट थैचर ने की। लातिन अमेरिका के देश इन नीतियों को लागू करने की पहली प्रयोगभूमि बने।

पूँजीवाद के स्वर्णिम युग बीतने के बाद डॉलर के मूल्य में आई गिरावट और पेट्रो डॉलर की वजह से विश्व बाज़ार में मौद्रिक तरलता तथा कम ब्याज़ दर का लाभ उठाने के लिए ब्राज़ील, मैक्सिको और अर्जेंटीना जैसे कई लातिन अमेरिकी देशों ने जमकर ऋण लिया। ये देश जो अब तक **आयात प्रतिस्थापन औद्योगिकीकरण** (इम्पोर्ट सब्स्टीट्यूशन इंडस्ट्रियलाइज़ेशन) का रास्ता अपना रहे थे, अब वैश्विक पूँजी पर अपनी निर्भरता बढ़ाने लगे। परन्तु 1970 के दशक के अन्त में अमेरिका ने मुद्रास्फ़ीति की दर पर काबू पाने के लिए ब्याज़ दरों को बढ़ाना शुरू कर दिया (1975 से 1984 के बीच अमेरिका की प्राइम ब्याज़ दर 5-7 प्रतिशत से बढ़कर 18 प्रतिशत तक जा पहुँची)। इसका सीधा असर उन लातिन अमेरिकी देशों पर हुआ जिन्होंने पहले कम ब्याज़ दर की वजह से ऋण लिया था। उन देशों की देनदारी बहुत तेज़ी से बढ़ गई और वे भयंकर ऋण संकट की चपेट में आ गए। इस संकट का लाभ उठाते हुए आईएमएफ़ ने लातिन अमेरिकी देशों को **ढाँचागत समायोजन कार्यक्रम (स्ट्रक्चरल एडजस्टमेंट प्रोग्राम)** को लागू करने के लिए राजी कर लिया और इस प्रकार वे देश आयात प्रतिस्थापन औद्योगिकीकरण का रास्ता छोड़कर नवउदारवाद के रास्ते पर चल निकले जिसके बेहद भीषण दुष्परिणाम देखने को मिले। 1990 का दशक आते-आते भारत सहित तमाम उत्तर-औपनिवेशिक देशों में ढाँचागत समायोजन कार्यक्रम के नाम पर

नवउदारवादी नीतियों के लागू होने की शुरुआत हो चुकी थी। इन नीतियों को लागू करने में जहाँ एक ओर साम्राज्यवादी दबाव की भूमिका से इनकार नहीं किया जा सकता वहीं दूसरी ओर इस बात की भी अनदेखी नहीं की जानी चाहिए कि पब्लिक सेक्टर पूँजीवाद जो कभी तीसरी दुनिया के देशों के पूँजीपति वर्ग की ज़रूरत थी, समय बीतने के साथ ही साथ अपनी उपयोगिता खोता जा रहा था और तमाम बंदिशों की वजह से पूँजी का दम घुटता जा रहा था। तीसरी दुनिया के देशों का पूँजीपति वर्ग स्वयं भी पूँजी के के निर्बन्ध प्रवाह के रास्ते की बाधाएँ कम करने के लिए इच्छुक था। हालाँकि यह बात भी सच है कि भारत जैसे तीसरी दुनिया के देशों में भुगतान संतुलन के संकट की परिस्थिति नहीं होती तो इन देशों का बुर्जुआ वर्ग अपनी शर्तों पर अर्थव्यवस्था के उदारीकरण की प्रक्रिया शुरू करता और उस परिस्थिति में साम्राज्यवादी दबाव के सामने उसे उतना नहीं झुकना पड़ता जितना उसे संकट की परिस्थिति में झुकना पड़ा।

नवउदारवादी भूमण्डलीकरण के दौर में साम्राज्यवाद की मुख्य अभिलाक्षणिकताएँ

1. उत्पादन का अन्तरराष्ट्रीयकरण

नवउदारवादी भूमण्डलीकरण के दौर में आए परिवर्तनों की बात करते समय अक्सर बहुतेरे अकादमिशियन और बुद्धिजीवी वित्तीय पूँजी के अन्तरराष्ट्रीयकरण का ही ज़िक्र करते है और उत्पादन के अन्तरराष्ट्रीयकरण तथा उत्पादन के तौर-तरीकों में आए बदलावों पर उतना ज़ोर नहीं देते हैं। परन्तु आज के दौर के साम्राज्यवाद को समझने के लिए और इसके ख़िलाफ़ मज़दूर वर्ग के प्रतिरोध को संगठित करने के लिए उत्पादन की प्रणाली में आये ऐसे विश्वव्यापी बदलावों को समझना बेहद ज़रूरी है जिनकी लेनिन ने संकेतों में शिनाख़्त तो की थी लेकिन चूँकि वे भविष्य की चीज़ थे इसलिए लेनिन की रचनाओं में उनका विस्तार में वर्णन नहीं मिलता है।

भूमण्डलीकरण के दौर से पहले की पूँजीवादी उत्पादन की प्रमुख कार्यप्रणाली (मोडस ऑपरेण्डी) को **फ़ोर्डिज़्म** कहा जाता था जिसके तहत पूरे माल का उत्पादन बड़े-बड़े कारखानों के भीतर असेम्बली लाइनों पर होता था। फ़ोर्डिज़्म बीसवीं सदी के आरम्भिक दशकों में अमेरिका में अस्तित्व में आया था। इस प्रणाली की तीन अभिलाक्षणिकताएँ थीं **1)** उत्पादन का अधिकतम सम्भव मानकीकरण। **2)** अत्यधिक उन्नत श्रम-विभाजन जिसे गतिमान असेम्बली लाइन द्वारा कार्यान्वित किया गया। **3)** उत्पादन की पूरी प्रक्रिया में कुशल श्रम की भूमिका को न्यूनतम बनाना।

परन्तु 1970 के दशक के पूँजीवादी संकट के बाद शुरू हुए नवउदारवादी भूमण्डलीकरण के दौर में विकसित मुल्कों के पूँजीपति वर्ग को उत्पादन की लागत को कम करके मुनाफ़े की दर को बढ़ाने के लिए उत्पादन के स्थान को कच्चे माल और सस्ते श्रम वाली जगहों की ओर स्थानान्तरित करने की ज़रूरत महसूस हुई। यह वो समय था जब विऔपनिवेशीकरण (decolonisation) की प्रक्रिया के फलस्वरूप तीसरी दुनिया के तमाम नवस्वाधीन देशों में पूँजीवादी विकास की प्रकिया शुरू हो चुकी थी। चूँकि इन देशों में पूँजी का आवयविक संघटक सापेक्षत: कम था और श्रमशक्ति व कच्चा माल सस्ता था इसलिए भूमण्डलीकरण के दौर में मुनाफ़े की दर को बढ़ाने के लिए उत्पादन का स्थल **'ग्लोबल नॉर्थ'** (विकसित देशों) से **'ग्लोबल साउथ'** (तीसरी दुनिया के देशों) की ओर स्थानान्तरित करने की प्रक्रिया शुरू हुई। इस प्रक्रिया को **'ग्लोबल लेबर आर्बिट्रेज'** के नाम से जाना जाता है। इसी दौरान परिवहन, संचार व सूचना प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में हुए नवोन्मेषों ने इस प्रक्रिया को संवेग प्रदान किया क्योंकि इससे राष्ट्र राज्यों की सीमा के आर-पार पूँजी, मालों और सूचना की आवाजाही की रफ़्तार कई गुना बढ़ गई। परिवहन, संचार व

सूचना प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में हुए नवोन्मेषों ने एक दुनिया के विभिन्न हिस्सों में फैले वैश्विक उत्पादन नेटवर्क ('ग्लोबल प्रोडक्शन नेटवर्क') के तहत 'जस्ट-इन-केस' की बजाय 'जस्ट-इन-टाइम' उत्पादन करना मुमकिन बनाया अर्थात् भविष्य में उपभोक्ताओं की माँग की आस में पहले से ही विशालकाय इन्वेंटरी खड़ी करने की बजाय उपभोक्ता की माँग के अनुरूप फटाफट उत्पादन करना पहले की तुलना में आसान हो गया, हालाँकि इस परिस्थिति में भी उत्पादन का नियामक उपभोग नहीं बल्कि मुनाफ़ा ही है। इस दौर में न सिर्फ़ उत्पादन का स्थल स्थानान्तरित हुआ बल्कि उत्पादन की समूची प्रक्रिया को कई हिस्सों में बाँटकर उन हिस्सों को अलग-अलग स्थानों की विशेषता अनुसार अलग-अलग स्थानों पर निर्मित किया जाने लगा। यह प्रक्रिया **'आउटसोर्सिंग'** और **'ऑफ़शोरिंग'** के रूप में मुकम्मिल हुई। इस प्रकार उत्पादन की समूची प्रक्रिया और उसके साथ ही फ़ोर्डिस्ट असेंबली लाइन का विखण्डन भी शुरू हुआ। फ़ोर्डिस्ट प्रणाली के पराभव और उत्पादन के बिखराव का पूँजीपति वर्ग को एक लाभ यह भी हुआ कि मज़दूर वर्ग के संगठित होने का भौतिक आधार कमज़ोर हो गया क्योंकि बड़े-बड़े कारखानों में एक ही छत के नीचे हज़ारों की संख्या में काम करने की बजाय मज़दूर अब दुनिया के अलग-अलग हिस्सों में छोटे-छोटे कारखानों में बिखर गए। हालाँकि इससे यह भ्रम नहीं पैदा होना चाहिए कि इसके कारण उत्पादन का पैमान सिकुड़ गया है। वास्तव में, उत्पादन अब और बड़े पैमाने पर हो रहा है, लेकिन माल विशेष के उत्पादन की प्रक्रिया कई हिस्सों में विभाजित हो गई है। इसके बाद श्रम बाज़ारों का विनियमन समाप्त करके लचीला श्रम बाज़ार बनाना आसान हो गया। इस प्रकार सस्ते, लचीले और अनुशासित श्रम की तलाश में उत्पादक पूँजी ने तीसरी दुनिया के देशों की ओर रुख किया।

उत्पादन के भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया में उत्पादन स्थल के 'ग्लोबल साउथ' की ओर रुख करने की दास्तान कुछ आँकड़ों से समझी जा सकती है। अन्तरराष्ट्रीय श्रम संगठन (आईएलओ) के मुताबिक 1980 में दुनिया में कुल श्रमिकों की संख्या 1.9 अरब थी जो 2007 में बढ़कर 3.1 अरब हो गई। 1980 में औद्योगिक रोज़गार में तीसरी दुनिया के देशों का हिस्सा 52 प्रतिशत था जो 2012 में बढ़कर 83 प्रतिशत हो गया। 2013 में पूरी दुनिया के प्रत्यक्ष विदेशी निवेश का 61 प्रतिशत हिस्सा विकासशील देशों की ओर गया जो 2006 में 33 प्रतिशत और 2010 में 51 प्रतिशत था।[1] हालाँकि 2015 के बाद से एक बार फिर विकसित देशों की ओर आने वाला प्रत्यक्ष विदेशी निवेश विकासशील देशों की ओर जाने वाले प्रत्यक्ष विदेशी से अधिक हुआ है।

नीचे के चार्ट में 1980 से 2008 के बीच विकसित और विकासशील देशों के बीच औद्योगिक रोज़गार का वितरण दिखाया गया है जिससे स्पष्ट है कि विश्व में औद्योगिक रोज़गार में विकासशील देशों के हिस्से में लगातार बढ़ोतरी हुई है, जबकि विकसित देशों के हिस्से में लगातार कमी आई है।

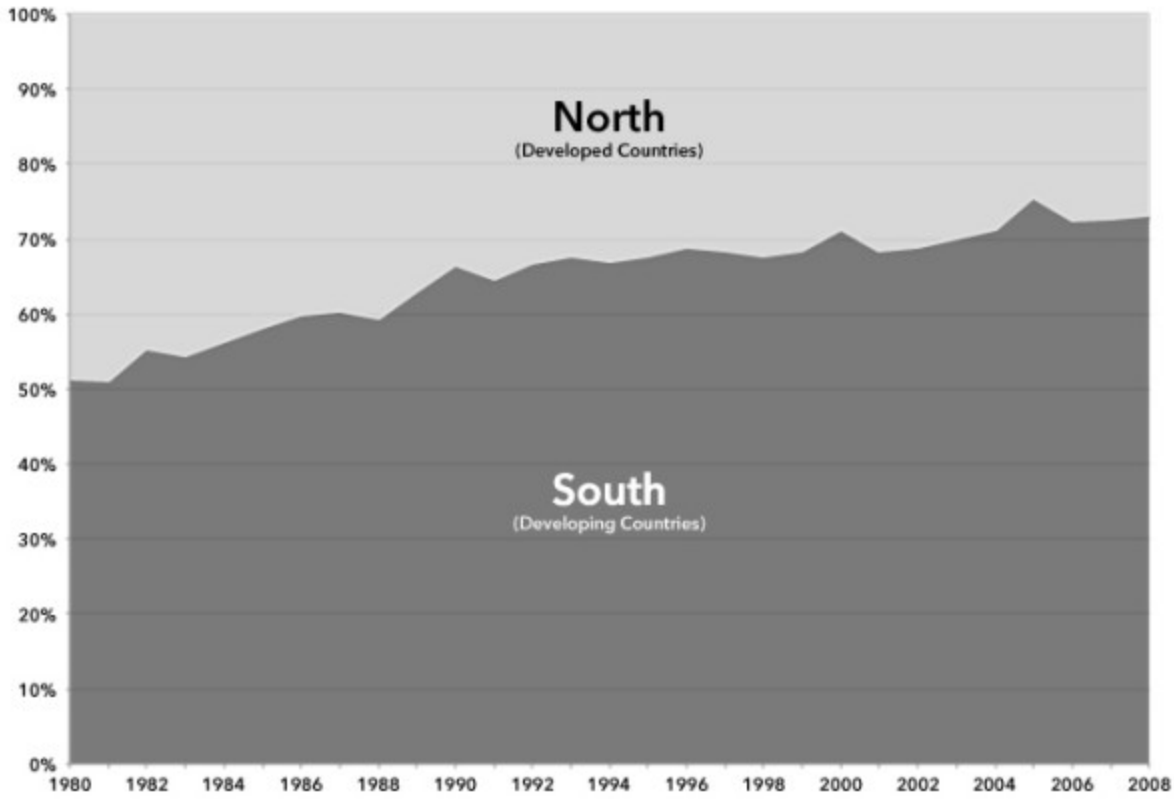

स्रोत: ILO, "Key Indicators of the Labour Market (KILM), Sixth Edition," Software Package (Geneva: International Labour Organization, 2009); UNCTAD, "Countries, Economic groupings," UNCTAD Statistical Databases Online, http://unctadstat.unctad.org (Geneva: Switzerland, 2011).

2011 में सक्रिय श्रमिक आर्मी की संख्या 1.4 अरब थी जबकि 2.4 अरब लोग वैश्विक रिज़र्व आर्मी (बेरोज़गार, अर्द्ध बेरोज़गार और आर्थिक रूप से निष्क्रिय लोग) का हिस्सा थे। तीसरी दुनिया के देशों में पूँजी की मार से तबाह हो रहे छोटे व मझौले किसान तेज़ी से से विशाल रिज़र्व आर्मी में शामिल हो रहे हैं और आर्थिक संकट की वजह से विकसित देशों के बेरोज़गार भी इसमें शामिल हो रहे हैं। इस विशाल वैश्विक रिज़र्व आर्मी की वजह से ही श्रमशक्ति का मूल्य कम हो जाता है।

नवउदारवादी भूमण्डलीकरण के दौर में उत्पादन के तीसरी दुनिया की ओर स्थानान्तरण ने मोटे तौर पर दो स्वरूप अख़्तियार किये हैं: **1)** बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ **प्रत्यक्ष विदेशी निवेश (एफ़डीआई)** के माध्यम से तीसरी दुनिया के देशों में अपनी कम्पनियों की शाखाएँ खोलती हैं जिनमें वे स्थानीय सस्ते श्रम को सीधे भर्ती करके स्वयं उत्पादन करवाती हैं। 2) बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ तीसरी दुनिया के देशों में मौजूद कम्पनियों के साथ करार करती हैं। इस प्रक्रिया को **आर्म्स लेंथ सबकॉन्ट्रैक्टिंग** या **नॉन-ईक्विटी मोड** कहा जाता है क्योंकि इसमें विकसित देशों में स्थित कम्पनी उत्पादन से एक दूरी बनाकर रखती है और उत्पादन करने वाली स्थानीय कम्पनी में उसका कोई मालिकाना नहीं होता है। इस प्रक्रिया में बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ श्रमिकों के प्रति दायित्व से अपना पल्ला झाड़ लेती हैं क्योंकि श्रमिकों के प्रबन्धन की पूरी जिम्मेदारी करार में शामिल स्थानीय कम्पनी की होती है जो मनमाने तरीके से श्रमिकों को निचोड़कर बेहद सस्ती दरों में उत्पादन करवाती है।

उत्पादन के भूमण्डलीकरण को नाइकी जूते के उत्पादन प्रक्रिया से आसानी से समझा जा सकता है। नाइकी उन सबसे पहली कम्पनियों में एक थी जिसने 'नॉन-ईक्विटी मोड' में अपने उत्पादन के भूमण्डलीकरण की शुरुआत की। नाइकी के एक जूते को 52 हिस्सों में बाँटकर उसके अलग-अलग हिस्सों को सस्ती व कुशल श्रमशक्ति तथा कच्चे माल की सुलभता के अनुसार दुनिया के अलग-अलग भागों में बनाया जाता है, मसलन अगर जूते का सोल बनवाने के लिए सस्ता श्रम और सस्ता कच्चा माल इण्डोनेशिया में, फीते के उत्पादन के लिए सस्ता श्रम और कच्चा माल तुर्की में, चमड़े की बॉडी के लिए सस्ता श्रम और कच्चा माल मेक्सिको में मिलता है, और इन सभी अलग-अलग हिस्सों को जोड़ने की कुशलता रखने वाला सस्ता श्रम ब्राजील में मिलता है तो नाइकी किसी विकसित देश में एक कारखाना लगाने की बजाय तीसरी दुनिया के देशों में चार कारखाने लगाएगी। कारण यह कि परिवहन और संचार इतने सस्ते और तेज हो चुके हैं कि इससे उत्पादन की लागत में जो थोड़ा-बहुत फ़र्क आता है, उससे कहीं ज़्यादा फ़ायदा अलग-अलग जगहों पर सस्ते श्रम और सस्ते कच्चे माल के दोहन से मिलता है।

वैश्विक उत्पादन नेटवर्क को बोइंग विमान के निर्माण की प्रक्रिया से भी समझा जा सकता है। जैसा कि निम्न चित्र में दिखाया गया है, बोइंग के विभिन्न हिस्से इटली, जापान, दक्षिण कोरिया और ऑस्ट्रेलिया में अलग-अलग कम्पनियों द्वारा बनाए जाते हैं जो बोइंग के विशाल कारगो जहाजों में लादकर अमेरिका के एवरेट शहर में लाए जाते हैं जहाँ बोइंग के कारखाने में उनकी असेम्बली होती है।

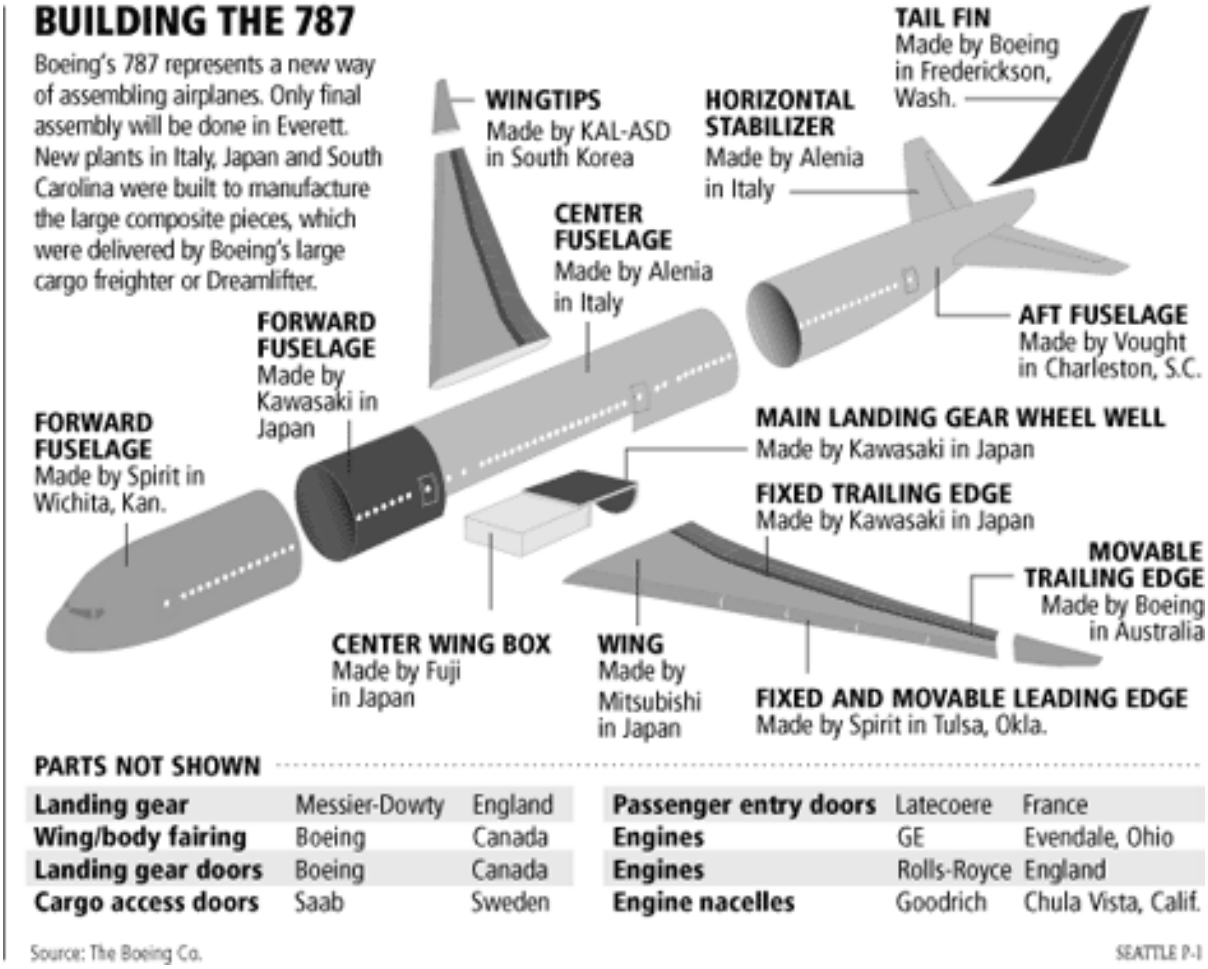

इसी तरह से जैसा कि निम्न चित्र में दिखाया गया है, विम्बलडन टेनिस बॉल के निर्माण की प्रक्रिया में टेनिस बॉल 11 देशों और 4 महाद्वीपों से होकर गुज़रती है और कुल मिलाकर पचास हज़ार मील से भी अधिक की दूरी तय करती है।

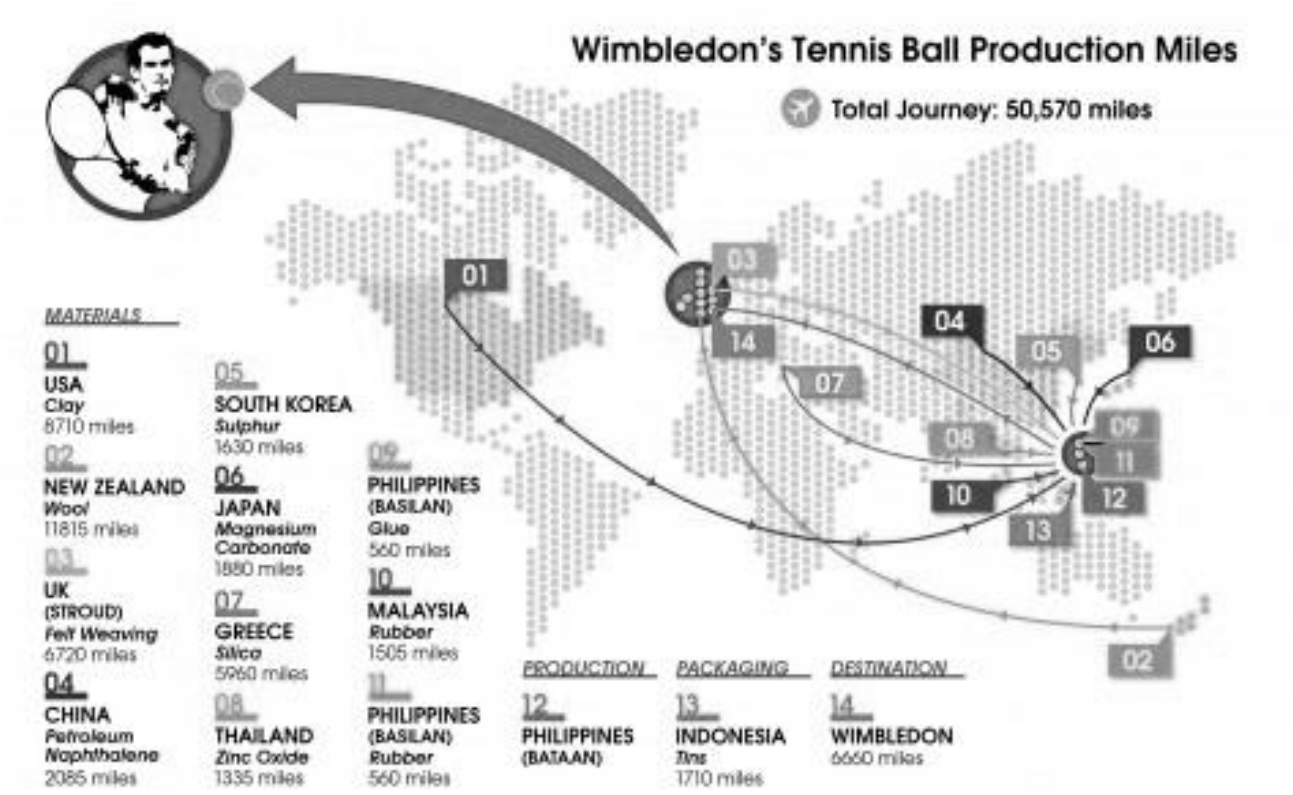

स्रोत: https://www.themanufacturer.com/articles/wimbledons-tennis-balls-make-50000-mile-journey/

एक अन्य उदाहरण लेते हैं: ताईवान की कम्पनी फ़ॉक्सकॉन एप्पल, आईबीएम, माइक्रासॉफ्ट, गूगल, इंटेल, सिस्को, जीई, अमेज़न, डेल, मोटरोला, नोकिया, पैनासोनिक, सोनी, टोशिबा, फुजित्सू, सैमसंग, एलजी, सोनी एरिक्सन, एसर, हुवेई और लेनोवो जैसी कम्पनियों को कम्प्यूटर, मोबाइल फ़ोन और उपभोक्ता इलेक्ट्रॉनिक्स के कम्पोनेंट और फ़िनिश्ड प्रोडक्ट की आपूर्ति करती है। फ़ॉक्सकॉन की उत्पादक इकाइयाँ ताईवान, हांगकांग, दक्षिण कोरिया, मेक्सिको तुर्की जैसे देशों में हैं जहाँ तमाम इलेक्ट्रॉनिक्स कम्पोनेंट्स बनते हैं। इन कम्पोनेंट्स की असेम्बली चीन के तटीय क्षेत्रों के तमाम शहरो में स्थित फ़ॉक्सकॉन के असेम्बली प्लांट्स में होती है।

भारत का उदाहरण लिया जाए तो गुड़गाँव-मानेसर ऑटोमोबाइल पट्टी में ऑटोमोबाइल कम्पनियाँ सप्लायरों की बहुसंस्तरीय श्रृंखला से कार या बाइक के कम्पोनेंट्स लेकर अपने संयंत्रों में असेम्बल करती हैं। ऑटोमोबाइल कम्पनियों और सप्लायरों की इस जटिल श्रृंखला में एक ओर मारूति, होण्डा, हीरो जैसी ऑटोमोबाइल कम्पनियाँ और वैश्विक उत्पादन नेटवर्क से जुड़े डेल्फ़ी, डेंसो, बॉश, रीको, प्रिकोल जैसी वैश्विक कम्पोनेंट सप्लायर हैं, बीच में पहले और दूसरे टियर वेंडर के रूप में काम करने वाले बड़े उद्यम हैं जो क्षेत्रीय उत्पादन नेटवर्क के महत्वपूर्ण अंग हैं। सबसे निचले पायदान पर ढेर सारे मझौले और छोटे उद्यम हैं जो छोटे पार्ट्स सप्लाई करती हैं।[2]

अमेरिका में 1960 के दशक के अन्त से जूतों, कपड़ों, खिलौनों और इलेक्ट्रॉनिक सामानों के उत्पादन के सस्ती श्रमशक्ति वाले तीसरी दुनिया के देशों की ओर स्थानान्तरित होने की शुरुआत हो चुकी थी और इसी प्रक्रिया में वालमार्ट, टेस्को और कैरेफोर जैसी दैत्याकार कम्पनियों का जन्म हुआ। आज भी दुनिया की सप्लाई चेन में इन रिटेल कंपनियों का ही दबदबा है। ये कम्पनियाँ एशिया के देशों के मैन्युफैक्चरर्स से उत्पादन करवाती हैं। इसी प्रकार सिस्को, सन माइक्रोसिस्टम्स, एटी एंड टी जैसी कम्पनियों ने इलेक्ट्रॉनिक्स और हाई-टेक उद्योग को ताईवान और दक्षिण कोरिया जैसे देशों में आउटसोर्स करने की पहल की। 1990 के दशक में इंटरनेट व सूचना क्रान्ति की वजह से अमेरिकी, यूरोपीय व जापानी कम्पनियों ने सूचना प्रौद्योगिकी की क्षेत्र मे पहले आयरलैण्ड और फिर भारत जैसे तीसरी दुनिया के देशों में आउटसोर्सिंग की प्रक्रिया तेज़ हुई।

संयुक्त राष्ट्र व्यापार और विकास सम्मेलन (यूएनसीटीएडी) के एक अध्ययन के अनुसार, ''लगभग वर्ष 2000 के आसपास से विश्व व्यापार और प्रत्यक्ष विदेशी निवेश दोनों में बहुत तेज़ी से बढ़ोतरी आई है। इस वृद्धि ने वैश्विक जीडीपी वृद्धि को पीछे छोड़ दिया है, जो राष्ट्रपारीय निगमों द्वारा संचालित नेटवर्क में अन्तरराष्ट्रीय उत्पादन के तीव्र विस्तार को दिखाता है।''

केट ब्रोन्फ्रेनब्रेनर और स्टेफ़नी ल्यूस यह अनुमान लगाते हैं कि 1992 से 2001 के बीच हर साल ''*सूचना व संचार प्रौद्योगिकी से लेकर औद्योगिक मशीनरी और इलेक्ट्रॉनिक्स के पुर्जों की हाई-एंड मैन्युफैक्चरिंग से खाद्य प्रसंस्करण और टेक्सटाइल्स में कम मज़दूरी वाली मैन्युफैक्चरिंग की 70,000 से 1 लाख उत्पादन नौकरियाँ अमेरिका से मेक्सिको और चीन की ओर स्थानान्तरित हो गईं।*''

नई सहस्राब्दी की शुरुआत में यह प्रक्रिया बहुत ज़्यादा तेज़ हो गई जब, ''*अमेरिका को छोड़कर एशिया व लातिन अमेरिका की ओर जाने वाली नौकरियाँ 2001 में 2 लाख से बढ़कर 2004 में 4 लाख क़रीब हो गईं। इस युगान्तरकारी स्थानान्तरण का साक्षात रूप प्रसिद्ध 'मेड इन यू.एस.' ब्राण्ड लेवी स्ट्रॉस था जिसके 1960 के दशक में पूरे अमेरिका में तिरसठ कारखाने थे और जिसने 2004 में अपने कारखाने से 800 मज़दूरों को निकालकर उत्पादन को मेक्सिको और चीन में स्थानान्तरित कर दिया।*''

उत्पादन के भूमण्डलीकरण की इस प्रक्रिया को उसकी सटीकता में समझने के लिए यह ज़रूरी है कि उत्पादक पूँजी के अन्तरराष्ट्रीयकरण की प्रवृत्ति के साथ ही साथ उसकी विपरीत प्रवृत्तियों का भी उल्लेख किया जाए। इस सन्दर्भ में यह उल्लेख करना आवश्यक है कि उत्पादक पूँजी के अन्तरराष्ट्रीयकरण की रफ़्तार सभी सेक्टरों में एकसमान नहीं है। जहाँ गारमेंट, जूते, खिलौने, चिप मेकिंग, आईटी जैसे क्षेत्रों में पूँजी को सस्ते श्रम वाले इलाकों की ओर स्थानान्तरित करना आसान होने की वजह से उत्पादक पूँजी का अन्तरराष्ट्रीयकरण अधिक हुआ है, वहीं बुनियादी व अवरचनात्मक उद्योगों, भारी उद्योगों और निर्माण उद्योग में उत्पादक पूँजी का अन्तरराष्ट्रीयकरण सापेक्षत: कम हुआ है। जहाँ कुछ सेक्टरों में फ़ोर्डिस्ट असेम्बली लाइन का पराभव तेज़ गति से हुआ है वहीं कुछ बुनियादी क्षेत्रों में अभी भी उत्पादन अधिकांशत: पुराने तौर-तरीके से ही होता है। साथ ही 'आर्टिफ़ीशियल इंटेलिजेंस' और 'रोबोटिक्स' जैसे नवोन्मेषों के मद्देनज़र भविष्य में उत्पादन के केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति के मजबूत होने की सम्भावना से भी इनकार नहीं किया जा सकता है, हालाँकि यह भी सच है कि उस परिस्थिति में पूँजीवाद का संकट और गहराएगा।

2. पूँजी संचय का अभूतपूर्व वित्तीयकरण और वित्तीय पूँजी की निर्णायक विजय

मार्क्स ने पूँजी खण्ड 3 में वास्तविक पूँजी (Real capital) और अवास्तविक पूँजी (fictitious capital) में भेद करते हुए बताया था कि जहाँ पहले तरह की पूँजी के लिए माल उत्पादन आवश्यक होता है (M-C-M') वहीं दूसरे तरह की पूँजी सट्टबाजी (speculation) के सहारे पैसे से पैसा बनाती हुई दिखती है (M-M')। परन्तु मार्क्स के समय में अवास्तविक पूँजी

वास्तविक पूँजी के अधीन थी। साम्राज्यवाद के युग में औद्योगिक पूँजी और बैंकिंग पूँजी के विलय से निर्मित वित्तीय पूँजी अस्तित्व में आई जिसे लेनिन ने साम्राज्यवाद की एक बुनियादी अभिलाक्षणिकता बताया था। उन्होंने वित्तीय पूँजी के अनुत्पादक और परजीवी चरित्र की भी चर्चा की थी। लेनिन के दौर में हालाँकि अर्थव्यवस्था की 'कमाण्डिंग हाइट्स' पर वित्तीय पूँजी का प्रभुत्व क़ायम हो चुका था और वित्तीय महाप्रभु वर्ग औद्योगिक पूँजीपति वर्ग का बड़ा साझेदार तो बन चुका था, फिर भी कुल मिलाकर वित्त अभी उत्पादन के अधीन था या उसके लिए था। पूँजी संचय की प्रक्रिया उस समय औद्योगिक पूँजी पर ही केन्द्रित थी, भले ही उसे नियन्त्रित करने वाला 'स्टीयरिंग व्हील' वित्तीय पूँजीपति वर्ग के हाथ में आ गया था। उसी दौर में पूँजी की सेहत को लेकर अत्यन्त चिन्तित बुर्जुआ अर्थशास्त्री कीन्स ने पूँजीपति वर्ग को चेताते हुए कहा था कि जब तक उत्पादक पूँजी के प्रवाह में सट्टेबाजी बुलबुले के समान है तब तक तो ठीक है, लेकिन अगर उत्पादक पूँजी स्वयं सट्टेबाजी के भँवर में सतह पर तैरने वाला बुलबुला बन गई तो हालात काबू से बाहर हो जाएँगे। अगर आज कीन्स जीवित होते तो उनकी आँखो में आँसू होते क्योंकि सट्टेबाज वित्तीय पूँजी महज़ बुलबुला नहीं रही, अब यह सूनामी बन चुकी है और विश्व पूँजीवाद के अस्तित्व को ही मिटाने पर अमादा है।

वित्तीय पूँजी के परजीवी चरित्र को पूँजीवाद के विकास के दौरान स्वामित्व के स्वरूप में आए बदलावों से समझा जा सकता है। स्वतंत्र प्रतियोगिता वाले पूँजीवादी विकास के दौर में मुद्रा महज़ भुगतान का एक माध्यम हुआ करती थी और बुनियादी आर्थिक सम्बन्धों में उसकी कोई प्रभावी भूमिका नहीं होती थी। परन्तु उत्पादन के बढ़ते सान्द्रण और केन्द्रीयकरण एवं विशाल ट्रस्टों के अस्तित्व में आने के साथ ही साथ आधुनिक क्रेडिट प्रणाली का जन्म हुआ जो औद्योगिक प्रतिभूतियों पर आधारित थी, अर्थात् वह ऋण के द्वारा संचालित होती थी। इस प्रणाली के आने से पूँजी संचय की प्रकृति में कुछ बुनियादी बदलाव आने लगे क्योंकि अब स्वामित्व का अर्थ केवल वास्तविक परिसम्पत्तियों के स्वामित्व तक नहीं सीमित रह गया, बल्कि क़ागज़ी प्रतिभूतियों का स्वामित्व क्रमश: अधिक से अधिक महत्वपूर्ण होता गया जो उत्पादक परिसम्पत्ति के मूल्य की **सट्टेबाजी** (speculation) पर टिका था। इस प्रकार साम्राज्यवाद के युग में स्वामित्व के नये रूप का जन्म हुआ जिसके माध्यम से पूँजी संचय करने के लिए किसी भौतिक उत्पादन की आवश्यकता नहीं है, केवल सट्टेबाजी से पूँजी बढ़ाई जा सकती है। चूँकि इस पूँजी का वास्तविक उत्पादन से कोई सम्बन्ध नहीं होता इसलिए यह पूरे समाज में घोर अस्थिरता पैदा करती है।

ग़ौरतलब है कि उत्पादक पूँजी पर वित्तीय पूँजी की निर्णायक विजय की प्रक्रिया की शुरुआत 1970 के दशक के पूँजीवादी संकट के बाद नवउदारवादी भूमण्डलीकरण के उद्भव से होती है। मुनाफ़े की गिरती दर और पूँजी के अति संचय के उस संकट से निजात पाने के लिए तमाम राष्ट्रपारीय निगमों ने अपने विराट अधिशेष को वित्तीय संरचनाओं में निवेश करना शुरू किया ताकि कम समय में ज़्यादा मुनाफ़ा कमाया जा सके। इस दौर में पुराने और नये ऋणों पर **मॉर्गेज** (mortgage) के **प्रतिभूतिकरण** (securitization) की प्रक्रिया बहुत तेज़ी से आगे बढ़ी और नये-नये **वित्तीय उपकरण** (financial instruments) बाज़ार में आने लगे। आज वित्तीय बाज़ार केवल स्टॉक व बॉण्ड तक सीमित नहीं है। इसमें बीमा कम्पनियों, पेंशन फ़ण्ड, इन्वेस्टमेंट फ़ण्ड, बीमा बाज़ार, विदेशी मुद्रा बाज़ार और विभिन्न क़िस्म के वित्तीय उपकरण शामिल हैं। इसके अतिरिक्त पेटेंट, कॉपीराइट तथा अन्य बौद्धिक संपदा पर इज़ारेदारी के ज़रिये भविष्य में होने वाली आय पर **ऋण** (debt) और **शेयर** (equity) के नये उपकरण भी ईज़ाद किये गए। यही नहीं, इन वित्तीय उपकरणों पर भी सट्टेबाज़ी करने के नये उपकरण ईज़ाद किये गए। समय बीतने के साथ ही साथ **पेंशन फण्ड, फ्यूचर, ऑप्शन, स्वैप, हेज फण्ड, मॉर्गेज बैक्ड सिक्योरिटी, कोलेटरल डेट ऑब्लिगेशन** जैसे तमाम उपकरण ईज़ाद किये गए जिन्हें **डेरिवेटिव** कहा जाता है। इन वित्तीय उपकरणों के विस्तार में जाना

इस आलेख की विषयवस्तु की सीमा का अतिक्रमण होगा, संक्षेप में बस इतना कहना पर्याप्त होगा कि ये उपकरण भविष्य में होने वाली किसी भी प्रकार की आय (जिसमें पेशन व स्वयं ऋण भी शामिल है) की संभावना पर सट्टेबाजी की क़िस्म-क़िस्म की तिकड़में हैं। इन तिकड़मों ने पूँजी संचय का एक नया अन्तरराष्ट्रीय परिपथ तैयार किया जो स्थान और भौतिक उत्पादन से स्वतंत्र होता है। इस अन्तरराष्ट्रीय परिपथ में तीसरी दुनिया के देश भी शामिल हैं जिनके शेयर बाज़ारों में वित्तीय पूँजी पोर्टफ़ोलियों निवेश के रूप में अपनी पैठ बनाती है। सूचना प्रौद्योगिकी में आए चमत्कारिक नवोन्मेषों ने इस सट्टेबाजी को अभूतपूर्व रूप से गति दी क्योंकि उन्होंने पूँजी को एक शेयर बाज़ार से निकालकर दूसरे देश के शेयर बाज़ार में लगाना सेकंडों का काम बना दिया। पूरे विश्व में एक साल में वस्तुओं और सेवाओं के व्यापार में जितने मूल्य का लेनदेन होता है उससे अधिक मुद्रा सट्टेबाजी के रूप में एक सप्ताह के भीतर ही दुनिया भर के शेयर बाज़ारों में घूम जाती है। सट्टेबाज पूँजी के इस प्रभुत्व के चलते ही आज के दौर में पूँजीवाद को उचित ही जुआघर अर्थव्यवस्था कहा जाता है।

एक लम्बे दौर में पूँजीवाद के गुरुत्व केन्द्र का उत्पादन के क्षेत्र से वित्त के क्षेत्र में स्थानान्तरित होने की इस प्रक्रिया को वित्तीयकरण कहा जाता है। इस प्रक्रिया के फलस्वरूप राष्ट्रों की कुल आय में वित्त, बीमा और रियल एस्टेट का हिस्सा तेज़ी से बढ़ा है। इसे आँकड़ों से आसानी से समझा जा सकता है।

2014 में दुनिया के 2000 सबसे बड़ी बहुराष्ट्रीय निगमों पर किए एक अध्ययन के मुताबिक उनके कुल परिसम्पत्तियों का लगभग तीन-चौथाई (73.6 प्रतिशत) वित्त, बीमा, रियल एस्टेट के क्षेत्रों से आता है।[3] यह साम्राज्यवाद के बढ़ते परजीवी चरित्र का प्रमाण है। आज वित्तीय प्रसार को गति एक स्वस्थ वास्तविक अर्थव्यवस्था के विकास से नहीं बल्कि उसके ठहराव से मिल रही है।

3. लगातार गहराता पूँजीवादी संकट

1970 के दशक की मन्दी के बाद अर्थव्यवस्था के वित्तीयकरण की इस अभूतपूर्व रफ़्तार का नतीजा यह हुआ कि विकसित देशों की अर्थव्यवस्थाओं के पास उनकी अर्थव्यवस्था की वास्तविक सम्पदा से कई गुना ज़्यादा सम्पदा वित्तीय सम्पदा के रूप में एकत्र होने लगी जिसकी अभिव्यक्ति ऋण और जीडीपी के अनुपात में अभूतपूर्व बढ़ोतरी के रूप में सामने आई। इस प्रकार विकसित साम्राज्यवादी देशों की अर्थव्यवस्थाएँ औद्योगिक उत्पादन के केन्द्र की बजाय वित्तीय नियंत्रण और परिसम्पत्ति संचय (asset accumulation) के केन्द्र बन गए। शिक्षा, स्वास्थ्य, संचार जैसी सेवाएँ जो पहले सीमित रूप में ही माल थीं वे पूर्ण रूप में माल बन गईं। वास्तविक अर्थव्यवस्था पर वित्तीय तंत्र के प्रभुत्व का परिणाम यह हुआ कि समूची विश्व पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की अस्थिरता अभूतपूर्व रूप से बढ़ी। इस दौर में पूँजी संचय की क्रिया पूँजीवादी सामाजिक-आर्थिक दायरे में परिमाणात्मक विकास या प्रगति का द्योतक न होकर आम जनता के साथ ही साथ खुद पूँजीवाद के लिए एक विध्वंसकारी शक्ति बन गयी है। दूसरे शब्दों में कहें तो बाज़ार में तेज़ी अर्थव्यवस्था की सेहत का नहीं बल्कि सट्टेबाज़ी के बुलबुले के फूलने का सूचक बन गई है जिसकी परिणति अन्ततोगत्वा बुलबुले के फूटने और भयंकर मन्दी में होती है। साथ ही भूमण्डलीकरण के दौर में पूरे विश्व के शेयर बाज़ारों और अर्थव्यवस्थाओं के एकीकरण की वजह से किसी एक देश में आई मन्दी का असर पूरी दुनिया में दिखाई पड़ता है। इस प्रकार दुनिया की तमाम अर्थव्यवस्थाओं का एकीकृत होना अपने आप में समूची व्यवस्था की अस्थिरता को कई गुना बढ़ा देता है। पोर्टफ़ोलियो निवेश के रूप में दुनिया के तमाम शेयर बाज़ारों में लगी यह पूँजी अपने स्वभाव से ही अस्थिर होती है क्योंकि ज़्यादा से ज़्यादा मुनाफ़ा कमाने के लिए दुनिया भर के शेयर बाज़ारों में विचरण करती

रहती है और चूँकि वह सीधे तौर पर किसी भौतिक संयंत्र में नहीं लगी होती इसलिए उसे एक शेयर बाज़ार से निकालकर दूसरे बाज़ार में लगाना बहुत आसान होता है।

विश्व पूँजीवाद 1970 के दशक से जारी उत्पादन के क्षेत्र में ठहराव से आज तक निजात नहीं पा सका है। उसके बाद से जितने भी उछाल के दौर देखे गए वे सभी वित्तीय तंत्र की सट्टेबाजी से निर्मित बुलबुलों की वजह से थे जिनके फूटने में ज़्यादा समय नहीं लगा। मिसाल के लिए 1995 में मेक्सिको का संकट, 1997 में दक्षिण-पूर्व एशिया के एशियन टाइगर्स का संकट, डॉट कॉम बुलबुला, आवासीय बुलबुला आदि। उत्पादन के क्षेत्र में मुनाफ़े की दर में गिरावट इज़ारेदार कम्पनियों को वित्तीय क्षेत्र में निवेश करने की ओर धकेलती हैं जिससे समूची अर्थव्यवस्था का ऋण भाग बढ़ता जाता है। नवउददारवाद के दौर में उपभोक्ता ऋण और सरकारों के चालू खाते के घाटे में लगातार बढ़ोतरी हुई है। उदाहरण के लिए अमेरिका के फ़ेडरल रिज़र्व के आँकड़ों के अनुसार वहाँ 1980 में उपभोक्ता ऋण 355 बिलियन डॉलर था जो 1995 में बढ़कर 1 ट्रिलियन डॉलर, 2004 में 2 ट्रिलियन डॉलर और 2008 में 2.6 ट्रिलियन डॉलर हो गया। अमेरिका का चालू खाता 1992 तक फ़ायदे में था, लेकिन 1998 तक उसमें 100 बिलियन डॉलर का घाटा हो गया जो 2004 में बढ़कर 700 बिलियन डॉलर तथा 2008 में 1.2 ट्रिलियन डॉलर हो गया। पहले से ही लचर अर्थव्यवस्था की बुनियाद पर खड़ी सट्टेबाज वित्तीय तंत्र की विराट अट्टालिका बुनियाद को और खोखला करने का काम करती है। इस प्रकार वित्तीय तंत्र की सट्टेबाजी से होने वाला विकास पूँजीवादी व्यवस्था के ढाँचागत संकट को और गहरा करता जाता है।

वित्तीय तन्त्र की सट्टेबाजी का असर वास्तविक परिसम्पत्तियों जैसे कि घर की क़ीमतों में बढ़ोतरी का भी कारण बनता है जिससे मज़दूर वर्ग के साथ ही साथ मध्यवर्ग को भी महँगाई की ज़बर्दस्त मार सहनी पड़ती है। जैसा कि 2007-08 से जारी मन्दी के अनुभव से स्पष्ट है, सट्टेबाजी के बुलबुले के फूटने के बाद आई मन्दी का ख़ामियाज़ा भी आम लोगों को ही भुगतना पड़ता है क्योंकि एक ओर किफ़ायतसारी (austerity) के नाम पर राज्य द्वारा प्रदान की जा रही सार्वजनिक सुविधाओं में कटौती की जाती है और दूसरी और जनता की गाढ़ी कमाई से उन्हीं वित्तीय संस्थाओं को 'टू बिग टू फेल' के नाम पर बेलआउट किया जाता है जो मन्दी के लिए मुख्य रूप से जिम्मेदार थे।

इस प्रकार पूँजीवाद का संकट समाज में मौजूद आर्थिक असमानता की खाई को पहले से भी चौड़ा करने का काम कर रहा है। ये खाई इतनी तेज़ रफ़्तार से चौड़ी हो रही कि अब पूँजीवाद के थिंक टैक और 'वर्ल्ड इकोनॉमिक फ़ोरम' जैसे साम्राज्यवादी मंच भी इस पर घड़ियाली आँसू बहा रहे हैं। परन्तु इन थिंक टैंकों और साम्राज्यवादी मंचों के पास पूँजीवाद के इस ढाँचागत संकट का कोई इलाज नहीं है। मौजूदा संकट 1930 के दशक की महामन्दी जितना उथल-पुथल मचाने वाला भले ही न हो, लेकिन यह तुलनात्मक रूप से अधिक दीर्घकालिक है और इसलिए कुछ अर्थशास्त्री इसे 'लॉन्ग डिप्रेशन' का नाम दे रहे हैं। अतीत के संकटों की तुलना में मौजूदा संकट इस मायने में भी विशिष्ट है कि भूमण्डलीकरण की वजह से इसका असर विश्वव्यापी है जिसकी वजह से इसका स्वरूप कहीं ज़्यादा ढाँचागत और व्यवस्थागत है।

4. इज़ारेदार राष्ट्रपारीय निगमों का बढ़ता वर्चस्व और राष्ट्र-राज्यों की प्रासंगिकता का बरकरार रहना

4.1. इज़ारेदार राष्ट्रपारीय निगमों का बढ़ता वर्चस्व

साम्राज्यवाद को परिभाषित करते हुए लेनिन ने कहा था, ''यदि साम्राज्यवाद की संक्षिप्ततम परिभाषा देनी हो तो हम कहेंगे कि साम्राज्यवाद पूँजीवाद की इज़ारेदारी की अवस्था है।''[4] इसके बाद लेनिन इस संक्षिप्त परिभाषा की सीमाएँ बताते हुए उसकी

पाँच बुनियादी अभिलाक्षणिकताओं का ज़िक्र करते हैं जिसमें सबसे पहली अभिलाक्षणिकता का ज़िक्र करते हुए वे कहते हैं कि उत्पादन तथा पूँजी का सान्द्रण विकसित होकर इतनी ऊँची अवस्था में पहुँच गया है कि उसने इज़ारेदारियों को जन्म दिया है। अपनी पुस्तिका के पहले हिस्से में लेनिन इज़ारेदारी की इस प्रमुख अभिलाक्षणिकता की विस्तृत चर्चा करते हुए बताते हैं कि किस प्रकार पूँजीवाद की संरचना में निहित सान्द्रण की प्रवृत्ति की तार्किक परिणति के तौर पर उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक आते-आते पूँजीवाद स्वतंत्र प्रतियोगगिता की अवस्था से आगे निकल कर इज़ारेदारी की अवस्था में पहुँच गया था जिसमें समूची अर्थव्यवस्था पर कार्टेल, सिंडिकेट और ट्रस्टों जैसी इज़ारेदार संस्थाओं का प्रभुत्व क़ायम हो गया। ग़ौरतलब है कि पूँजीवाद की संरचना के भीतर मौजूद सान्द्रण (और केन्द्रीयकरण) की प्रवृत्ति की चर्चा मार्क्स ने भी 'पूँजी' में की थी।

''बड़ी पूँजी छोटी पूँजी को मात दे देती है...प्रतिस्पर्द्धा प्रतिद्वंद्वी पूँजियों की संख्या के समानुपात में और उनके परिमाण के व्युत्क्रमानुपात में बढ़ती है। इसका अन्त हमेशा कई छोटे पूँजीपतियों की तबाही में होता है, जिनकी पूँजियाँ आंशिक रूप से उनके प्रतिद्वंद्वियों के हाथों में चली जाती हैं और आंशिक रूप से पूरी तरह विलुप्त हो जाती है। इसके अतिरिक्त पूँजीवादी उत्पादन के विकास के साथ ही साथ एक पूरी तरह से नई ताक़त अस्तित्व में आती है: क्रेडिट व्यवस्था।'' [5]

आज के दौर में कार्टेल, सिंडिकेट और ट्रस्ट बड़े-बड़े निगमों के रूप में सामने आए हैं। हालाँकि बहुराष्ट्रीय निगम द्वितीय विश्वयुद्ध के पहले ही अस्तित्व में आ चुके थे, लेकिन युद्ध के बाद ऐसे निगमों की संख्या में तेज़ी से बढ़ोतरी हुई जिनकी शाखाएँ कई देशों में हुआ करती हैं। इनमें से तमाम निगम तो ऐसे हैं जिन्होंने अपने मूल राष्ट्र से अधिक निवेश अन्य राष्ट्रों में किया है। ऐसे में इन निगमों के मूल राष्ट्र का पता लगाना मुश्किल हो जाता है और ऐसा प्रतीत होता है मानो उनकी कोई राष्ट्रीय मूल ही न हो। इस विशिष्टता की वजह से ही ऐसे निगमों को राष्ट्रपारीय निगम (Trans-National Corporations) की संज्ञा दी जाती है।

पारम्परिक रूप से बहुराष्ट्रीय निगमों के विस्तार के पीछे मुख्य प्रेरक शक्ति कच्चे माल की उपलब्धता और माल बेचने के लिए नए बाज़ारों और लाभप्रद निवेश के अवसरों की खोज कर रही है। परन्तु हाल के दशकों में परिवहन तथा संचार व सूचना प्रौद्योगिकी में चमत्कारिक नवोन्मेषों की वजह से सस्ती श्रमशक्ति की तलाश में भी बहुराष्ट्रीय निगमों के लिए नए-नए देशों, विशेषकर तीसरी दुनिया के देशों, में अपना विस्तार करना आसान हो गया है। अपने विस्तार के लिए बहुराष्ट्रीय निगम आम तौर पर तीन रास्ते अख्तियार करते हैं। **1) ग्रीनफ़ील्ड निवेश** जिसके तहत निगम किसी दूसरे देश में नए संयंत्रों या कार्यालयों के निर्माण में निवेश करते हैं। इस मार्ग से निगम के और जिस देश में निवेश हो रहा होता है उसके उत्पादक स्टॉक में बढ़ोतरी होती है और नए रोज़गार का सृजन होता है। 2) **ब्राउनफ़ील्ड निवेश** जिसके तहत बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ दूसरे देश में नया संयंत्र लगाने की बजाय उसकी किसी कम्पनी में विलय या उसका अधिग्रहण करती हैं। इसमें जिस देश में निवेश होता है उसके उत्पादक स्टॉक में बढ़ोतरी नहीं होती और न ही नए रोज़गार का सृजन होता है। **3) रणनीतिक सहयोग** जिसके तहत दो या अधिक कम्पनियों में किसी क्षेत्र विशेष में सहयोग किया जाता है। हालाँकि यह एक पुरानी रणनीति रही है, लेकिन हाल के दशकों में यह कई निगमों के राष्ट्रपारीयकरण की मुख्य रणनीति बनकर उभरी है। ग़ौरतलब है कि एक-दूसरे की तगड़ी प्रतिस्पर्द्धी कम्पनियाँ भी रणनीतिक सहयोग से नहीं हिचकिचाती। वास्तव में यह होड़ का ही एक नया रूप है। उदाहरण के लिए जनरल मोटर्स ने टोयोटा, फोर्ड, रेनो के साथ और फ़ोर्ड, माज़्दा, बीएमडब्ल्यू और निस्सान के साथ रणनीतिक सहयोग के अनुबंध किए हैं । इसी तरह से सेमीकंडक्टर क्षेत्र में मोटरोला, आईबीएम, सीमेन्स और टोशिबा के बीच नए जनरेशन के मेमारी चिप्स को

लेकर और एसटी माइक्रोइलेक्ट्रॉनिक्स, फिलिप्स और मोटरोला के बीच शोध व अनुसंधान के क्षेत्र में रणनीतिक सहयोग के अनुबन्ध किए गए हैं।

आज ये बहुराष्ट्रीय और राष्ट्रपारीय निगम इतने समृद्ध हो चुके हैं कि उनकी सम्पत्ति दुनिया के कई देशों के सकल घरेलू उत्पाद से अधिक हो चुकी है। इन निगमों की समृद्धि का अन्दाज़ा इसी से लगाया जा सकता है कि दुनिया के शीर्ष 100 आर्थिक निकायों में केवल 69 निगम हैं और देश केवल 31 हैं। अगर दुनिया के शीर्ष 200 आर्थिक निकायों की बात करें तो उनमें 153 निगम हैं। वालमार्ट, शेल और एप्पल जैसे दुनिया के 10 सबसे बड़े निगमों की कुल आय दुनिया के 180 सबसे ग़रीब देशों की कुल आय से ज़्यादा है।[6] एप्पल के पास अकेले दुनिया के दो-तिहाई देशों के सकल घरेलू उत्पाद से ज़्यादा कैश है।[7] संयुक्त राष्ट्र व्यापार एवं विकास सम्मेलन के अनुमान के अनुसार ''विश्व व्यापार का लगभग 80 प्रतिशत राष्ट्रपारीय निगमों के अन्तरराष्ट्रीय नेटवर्क से सम्बन्धित है।''

जैसा कि अपनी पुस्तक 'कैपिटलिज़्म इन द एज ऑफ़ ग्लोबलाइज़ेशन'' में सामिर अमीन ने दिखाया है, इस नई साम्राज्यवादी व्यवस्था में पुनरुत्पादन पाँच प्रकार की इज़ारेदारियों पर टिका है: **(1)** प्रौद्योगिकी में इज़ारेदारी; **(2)** विश्वव्यापी बाज़ारों का वित्तीय नियन्त्रण; **(3)** पृथ्वी के प्राकृतिक संसाधनों की इज़ारेदाराना पहुँच; **(4)** मीडिया और संचार की इज़ारेदारी; **(5)** सामूहिक विनाश के हथियारों में इज़ारेदारी। इन इज़ारेदार निगमों के वर्चस्व की एक बानगी यह है कि आज दुनिया की शीर्ष 500 वैश्विक कंपनियों का राजस्व दुनिया के कुल राजस्व का 30 प्रतिशत है।

4.2. राष्ट्र-राज्यों की प्रासंगिकता का बरकरार रहना

उत्पादन व वित्त के भूमण्डलीकरण एवं दैत्याकार इज़ारेदार राष्ट्रपारीय निगमों एवं विश्व बैंक, आईएमएफ़, डब्ल्यूटीओ, वर्ल्ड एकॉनोमिक फ़ोरम तथा अन्तरराष्ट्रीय रेटिंग एजेंसियों के अस्तित्व में आने की वजह से कई अकादमिशियन और बुद्धिजीवी नवउदारवादी भूमण्डलीकरण के मौजूदा दौर में राष्ट्र राज्यों की भूमिका को कम करके आँकते हैं या उनकी कोई भूमिका ही नहीं मानते हैं। कुछ तो यहाँ तक कहते हैं कि इस दौर में एक अमूर्त राष्ट्रपारीय सत्ता अस्तित्व में आई है जो किसी एक राष्ट्र के पूँजीपति वर्ग के नियंत्रण में नहीं है बल्कि अन्तरराष्ट्रीय पूँजी के हितों को साधती है। इस अमूर्त राष्ट्रपारीय सत्ता को हार्ट और नेग्री **एम्पायर** का नाम देते हैं और प्रभात पटनायक जैसे बुद्धिजीवी इसे अन्तरराष्ट्रीय वित्तीय पूँजी की सत्ता कहते हैं। विलियम रॉबिन्सन इन सबसे आगे जाते हुए एक राष्ट्रपारीय पूँजीपति वर्ग (Transnational Capitalist Class) और राष्ट्रपारीय राज्य (Transnational State) की अवधारणा देते हैं और वे कहते हैं कि न सिर्फ़ वैश्विक पूँजी की वस्तुगत परिस्थितियों ने पूँजी के राष्ट्रपारीय क्रियाकलाप को सम्भव बनाया है बल्कि इसके फलस्वरूप एक वर्ग-सचेत और वर्चस्ववादी राष्ट्रपारीय पूँजीपति वर्ग भी अस्तित्व में आया है जो सिर्फ़ "class-in-itself" नहीं बल्कि "class-for-itself" है। यही नहीं वे एक बहुस्तरीय राष्ट्रपारीय राज्य तंत्र की बात भी करते हैं जिसमें यूएनओ, डब्ल्यूटीओ, वर्ल्ड बैंक जैसी अधिराष्ट्रीय संस्थाएँ, NAFTA, EU और ASEAN जैसी क्षेत्रीय संस्थाएँ और विभिन्न राष्ट्र-राज्य शामिल हैं। यानी रॉबिन्सन के अनुसार राष्ट्र राज्य विलुप्त नहीं हुए हैं बल्कि वे वैश्विक शासक वर्ग के सामूहिक प्राधिकार वाले राष्ट्रपारीय राज्य के अंग बन गए हैं।

दरअसल भूमण्डलीकरण के दौर में राष्ट्र-राज्यों की भूमिका समाप्त होने या कम होने का भ्रम पूँजी व राज्य के बीच के सम्बन्ध की यान्त्रिक समझ की वजह से पैदा होता है। पूँजी व राज्य के बीच के सम्बन्ध की यान्त्रिक समझ की वजह से या तो राज्य को

पूँजी की गतिकी से बिल्कुल स्वतन्त्र समझ लिया जाता है या फिर पूँजी और राज्य का समेकन कर दिया जाता है। राज्य को पूँजी की गतिकी से बिल्कुल स्वतन्त्र समझने वाले लोग राज्य की संकल्पना महज़ एक ऐसी संस्था के रूप में करते हैं जिसके कुछ सुनिश्चित आर्थिक व राजनीतिक प्रकार्य हैं। ऐसी यान्त्रिक समझ से ही राष्ट्रपारीय पूँजी के अस्तित्व में आने के बाद यह मुमकिन लगता है कि राज्य के प्रकार्यों को किसी राष्ट्रपारीय संस्था द्वारा सम्पन्न किया जा सकता है। इसी तरह से राज्य और पूँजी का समेकन करने वाले लोग राष्ट्रपारीय पूँजी के अस्तित्व में आने के बाद एक राष्ट्रपारीय राज्य तक की कल्पना को स्वाभाविक मानते हैं।

ऐसे में यह ज़रूरी हो जाता है कि राज्य और पूँजी के बीच के द्वंद्वत्मक सम्बन्ध को सही ढंग से समझा जाए। पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्धों की बुनियादी शर्त होती है कि श्रमशक्ति एक माल बन जाए और उसके लिए श्रमिकों को दो अर्थों में मुक्त होना होता है – उत्पादन के साधनों के स्वामित्व से मुक्ति और किसी एक मालिक की गुलामी से मुक्ति ताकि श्रमिक किसी को भी अपनी श्रमशक्ति बेचने के लिए स्वतंत्र हो। इसके लिए पूँजीपति वर्ग को राज्य की ज़रूरत होती है जिसका हिंसा पर एकाधिकार होता है। मार्क्स ने पूँजी में इस प्रक्रिया का आदिम पूँजी संचय के रूप में विशद वर्णन किया है। किसी समाज में पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्ध निर्णायक ढंग से स्थापित होने के बाद भी पूँजीपति वर्ग को राज्य की ज़रूरत उत्पादन के साधनों पर उनके निजी स्वामित्व को क़ायम रखने के लिए होती है जो पूँजीवादी विकास के दौरान बढ़ते सामाजिक ध्रुवीकरण से ख़तरे में आ जाता है। राज्य की आवश्यकता श्रम को नियन्त्रित करने के साथ ही साथ पूँजीपतियों के आपसी विवादों के निपटारे के लिए भी होती है। इसके अतिरिक्त पूँजी संचय की प्रक्रिया सुचारु रूप से चलाने के लिए आवश्यक बुनियादी ढाँचे (सड़कें, रेलवे, बंदरगाह, हवाई अड्डे, बिजली आदि) के निर्माण के लिए भी पूँजी को राज्य की आवश्यकता होती है। यही नहीं, तकनीकी शोध-अनुसंधान आदि के लिए भी पूँजी को राज्य की ज़रूरत होती है। इस प्रकार राज्य की आवश्यकता पूँजी संचय की परिस्थितियों के पुनरुत्पादन और समाज में जारी वर्ग संघर्ष से जुड़ी होती है। राज्य पूँजी संचय की परिस्थितियों के पुनरुत्पादन सिर्फ़ हिंसा के ज़रिये ही नहीं करता, बल्कि तमाम विचारधारात्मक उपकरणों के ज़रिये समाज में जारी वर्गीय अन्तर्विरोधों को धूमिल करने का काम भी करता है। पूँजीवादी राज्य का एक बुनियादी प्रकार्य होता है: पूँजीपति वर्ग के हितों का सामूहिकीकरण करना और उसे राष्ट्रीय हित के रूप में प्रस्तुत करना तथा साथ ही सर्वहारा वर्ग के सदस्यों को एकीकृत नागरिकों के रूप में पुनरुत्पादित करना एवं उन्हें वर्ग नहीं बल्कि राष्ट्र के सदस्यों के रूप में प्रस्तुत करना। राष्ट्र इन्हीं सम्बन्धों का संघनन होता है। राज्य द्वारा राष्ट्रवादी चेतना का प्रचार-प्रसार भी अन्तत: पूँजीपति वर्ग के हित में होता है क्योंकि इससे वर्गीय अन्तर्विरोध धूमिल होते हैं। इन वजहों से पूँजीवादी राज्य की संकल्पना एक राष्ट्र की 'टेरिटरी' के साथ ही यानी राष्ट्र-राज्य के रूप में ही की जा सकती है, न कि 'टेरिटरी' विहीन एक अधि-राज्य (super-state) के रूप में । यहाँ तक कि राष्ट्रपारीय पूँजी को भी अपने विस्तार व विवादों के निपटारे के लिए अपने गृह राष्ट्र-राज्य की ज़रूरत होती है। यही वजह है कि तमाम पूँजीवादी राष्ट्राध्यक्षों की विदेशी यात्राओं के समय डेलिगेट सूची में राष्ट्रपारीय पूँजीपतियों के प्रतिनिधि भी शामिल होते हैं। यही नहीं, जैसा कि 2008 की मन्दी के बाद साफ़ देखने में आया, पूँजीवादी संकट के समय भी बेलआउट पैकेज के लिए राष्ट्रपारीय पूँजी किसी राष्ट्रपारीय राज्य पर नहीं बल्कि अपने गृह राष्ट्-राज्य पर निर्भर होती है। राष्ट्रपारीय निगमों की अपने गृह राष्ट्र-राज्यों पर निर्भरता किसी संकट या सैन्य परिस्थिति में बिल्कुल स्पष्ट रूप में सामने आ जाती है। राष्ट्रपारीय राज्य की अवधारणा रखने वाले ये स्पष्ट रूप से नहीं बताते कि उस राष्ट्रपारीय राज्य की सेना कहाँ है जिसके पास हिंसा का एकाधिकार है। विलियम रॉबिन्सन कहते हैं कि ''ज़्यादा से ज़्यादा वैश्विक रूप से एकीकृत शासक वर्ग की कैबिनेट में अमेरिकी सैन्य तन्त्र युद्ध मन्त्रालय है...पूँजी के साम्राज्य का

मुख्यालय वाशिंगटन में स्थित है।'' यदि ऐसा होता तो अमेरिकी सेना केवल अमेरिका ही नहीं बल्कि अन्य साम्राज्यवादी देशों के हित में भी कार्रवाईयाँ करती और युद्ध के बाद पुनर्निमाण की परियोजनाओं में बिना किसी भेदभाव किए सभी साम्राज्यवादी लुटेरों को शामिल करती। लेकिन वास्तविकता इसके उलट है। एक रिपोर्ट के मुताबिक इराक़ युद्ध के बाद पुनर्निर्माण के काम के ठेके जिन कम्पनियों दिए गए उनमें से 80 प्रतिशत कम्पनियाँ अमेरिकी थीं। [8] ज़ाहिरा तौर पर अमेरिका ने इराक़ पर हमला किसी राष्ट्रपारीय पूँजीपति वर्ग के हित में नहीं बल्कि अमेरिकी पूँजीपति वर्ग के हित में किया था।

पूँजीवाद के विकास की प्रक्रिया में राज्य और पूँजी के बीच के सम्बन्ध भी विकसित हुए हैं। किसी दौर में राज्य पूँजी से अधिक स्वायत्त प्रतीत होता है तो किसी अन्य दौर में राज्य और पूँजी में आपस में विलय की प्रवृत्ति दिखती है। लेकिन किसी भी दौर में यह सम्बन्ध अन्तरविरोधों और तनावों से मुक्त नहीं होता। इसमें दो राय नहीं है कि नवउदारवादी भूमण्डलीकरण के दौर में पूँजी ने न सिर्फ़ राष्ट्र राज्यों की सीमाओं को तोड़ा है बल्कि इस प्रक्रिया में ऐसे तमाम इज़ारेदार राष्ट्रपारीय निगम अस्तित्व में आये हैं जो राष्ट्र राज्यों से स्वतंत्र प्रतीत होते हैं। यह भी सच है कि इस दौर में वित्तीय पूँजी का एक अन्तरराष्ट्रीय स्वरूप उभर कर आया है एवं तमाम ऐसी राष्ट्रपारीय संस्थाएँ अस्तित्व में आयी हैं जो राष्ट्र राज्यों की सम्प्रभुता का हनन करती प्रतीत होती हैं। परन्तु इस वास्तविकता का दूसरा पहलू यह भी है कि वैश्विक स्तर पर उत्पादन व वित्त के क्षेत्र में तमाम राष्ट्रपारीय निगमों के बीच प्रतिस्पर्द्धा भी बहुत तीखी हुई है। इस तीखी वैश्विक प्रतिस्पर्द्धा में राष्ट्रपारीय निगम अपने-अपने हितों की हिफ़ाज़त के लिए अपने-अपने गृह राष्ट्रों की राज्य सत्ता पर निर्भर रहते हैं जिसके साथ उनका ऐतिहासिक रूप से सम्बन्ध रहा है।

उपरोक्त वजहों से राष्ट्रपारीय निगमों की अपने गृह-राष्ट्र पर निर्भरता तो रहती ही है, इसके साथ ही साथ भूमण्डलीकरण के दौर में ये निगम अपने अधिकारियों, थिंकटैंकों, अन्तरराष्ट्रीय रेटिंग एजेंसियों व मीडिया के ज़रिये उन सभी देशों की राज्यसत्ताओं से भी अपने सम्बन्ध क़ायम करके अपने हितों की हिफ़ाजत करते हैं जहाँ उनकी पूँजी लगी होती है। नवउदारवादी भूमण्डलीकरण के दौर में राष्ट्र-राज्य अपने देश के पूँजीपति वर्ग के साथ ही साथ विदेशी पूँजी के हितों की हिफ़ाजत में मुस्तैदी से खड़े होते हैं। हालाँकि देशी और विदेशी पूँजी के हित कई मौकों पर आपस में टकराते भी हैं, परन्तु राष्ट्र-राज्य इस अन्तरविरोध को मित्रतापूर्ण ढंग से हल करते हैं और जब बात मेहनतकश वर्ग के हितों की आती है तो राष्ट्र राज्य नंगे रूप में देशी-विदेशी बड़ी पूँजी के हितों के साथ मुस्तैदी से खड़े दिखाई पड़ते हैं। देशी-विदेशी पूँजी के हितों की नुमाइंदगी करने वाले तमाम थिंक टैंकों की नीति निर्माण में भूमिका बढ़ती जा रही है और जनता के हितों की नुमाइंदगी करने का दावा करने वाली संस्थाओं का खोखलापन दिन पर दिन उजागर होता जा रहा है। ऐसे में इसमें कत्तई आश्चर्य की बात नहीं है कि मौजूदा दौर में दुनिया भर में बुर्जुआ जनवाद का दायरा लगातार सिकुड़ता जा रहा है और सरकारें ज़्यादा से ज़्यादा निरंकुश होती जा रही हैं।

इस तथ्य से कत्तई इनकार नहीं किया जा सकता है कि भूमण्डलीकरण के दशकों में राष्ट्रपारीय निगमों के विस्तार की रफ्तार में अभूतपूर्व तेज़ी आई है। परन्तु जो लोग इस तथ्य को खींचकर राष्ट्र-राज्यों से परे किसी वैश्विक पूँजीपति वर्ग और वैश्विक राज्य की परिकल्पना करते हैं वे तथ्यों के साथ दुराचार करते हैं। दुनिया के 100 बड़े राष्ट्रपारीय निगमों में अधिकांश ऐसे हैं जिनकी आधे से ज़्यादा गतिविधियाँ अपने गृह राष्ट्र में सम्पन्न होती हैं। इसके अतिरिक्त लगभग सभी राष्ट्रपारीय निगमों के मुख्यालय उनके मूल राष्ट्र में ही स्थित होते हैं। यही नहीं, शोध व अनुसंधान से जुड़े संयंत्र भी उनके गृह राष्ट्र में ही होते हैं। हालाँकि कुल वैश्विक औद्योगिक उत्पादन में दुनिया के सबसे बड़े राष्ट्रपारीय निगमों का हिस्सा लगभग 80 प्रतिशत है, परन्तु उनके कुल कार्यबल का दो-तिहाई उनके गृह राष्ट्र से आता है। 2004 में फ़ॉर्च्यून 500 के 365 सबसे बड़े निगमों के अध्ययन में यह पाया

गया कि उनमें से केवल 9 निगमों को वास्तव में निर्विवाद रूप से वैश्विक कहा जा सकता है, यानी वे निगम जिनके कुल विदेशी बिक्री का क़रीब 20 प्रतिशत दुनिया के तीन प्रमुख व्यापारिक ब्लॉक क्षेत्र (ASEAN, EU, NAFTA) को जाता है लेकिन इनमें से किसी एक में 50 प्रतिशत से कम होता है, यानी जिनकी पूँजी विश्व के सभी क्षेत्रों में कमोबेश एकसमान रूप से लगी होती है।

अपनी पुस्तक **'एम्पायर एंड इम्पीरियलिज़्म'** में **अटीलियो ए. बोरोन** 200 सबसे बड़ी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के अध्ययन के आँकड़े देते हैं जो उनके राष्ट्रीय आधार को निर्विवाद रूप से पुष्ट करते हैं: *''96 प्रतिशत...जिनके मुख्यालय सिर्फ़ आठ देशों में हैं, आठ देशों में इनकॉरपोरेट कम्पनी के रूप में पंजीकृत हैं: और उनके बोर्ड ऑफ़ डायरेक्टर मेट्रोपॉलिटन पूँजी के आठ देशों में बैठते हैं। उनके बोर्ड ऑफ़ डायरेक्टर्स के सदस्यों में अन्य राष्ट्रों के सदस्यों की संख्या 2 प्रतिशत से भी कम है...उनकी पहुँच तो वैश्विक है, लेकिन उनकी सम्पत्ति और उनके स्वामित्व का एक स्पष्ट राष्ट्रीय आधार है।''*[9]

ग़ौरतलब है कि परिवहन, संचार व सूचना प्रौद्योगिकी, ऑटोमेशन और आर्टिफ़ीशियल इंटेलिजेंस के क्षेत्र में अद्भुत तकनीकी प्रगति ने न सिर्फ़ राष्ट्रपारीय निगमों को उत्पादक पूँजी के किसी हिस्से को किसी दूसरे देश में स्थानान्तरित करना सस्ता और आसान बनाया है बल्कि परिस्थितियों के अनुसार उसे दूसरे देश से निकालकर किसी तीसरे देश में स्थानान्तरित करना या फिर से अपने मूल देश में वापस करना (**रीशोरिंग या बैकशोरिंग**) भी सस्ता और आसान बना दिया है जिसका नतीजा यह हुआ है कि तीसरी दुनिया के देशों में न सिर्फ़ पूँजी को आकर्षित करने की प्रतिस्पर्द्धा रहती है बल्कि उसे अपने देश में बनाए रखना भी पहले से ज़्यादा चुनौतीपूर्ण होता जाता रहा है। जैसा कि ऊपर इंगित किया जा चुका है, ग़ौर करने वाली बात यह भी है कि उत्पादक पूँजी का अन्तरराष्ट्रीयकरण सभी सेक्टरों में एकसमान रूप से नहीं बल्कि अलग-अलग सेक्टर में अलग-अलग रफ़्तार से हो रहा है।

इस प्रकार हम पाते हैं कि जहाँ एक ओर भूमण्डलीकरण के मौजूदा दौर में पूँजी के राष्ट्रपारीयकरण (Transnationaliation) की गति की अनदेखी करने से मौजूदा दौर की विशिष्टता को नहीं समझा जा सकता है वहीं दूसरी ओर इसकी विरोधी गति को भी नज़रअन्दाज़ नहीं किया जा सकता है जो पूँजी और राष्ट्र राज्यों के सम्बन्ध को क़ायम रखने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रही है।

5. विश्व पूँजीवादी व्यवस्था में अमेरिकी साम्राज्यवाद के वर्चस्व में ह्रास और अन्तरसाम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा के तीखे होने के संकेत

अमेरिका की सैन्य शक्तिमत्ता की सर्वोच्चता अक्सर यह भ्रम पैदा करती है कि विश्व-स्तर पर अमेरिकी साम्राज्यवाद का वर्चस्व बढ़ रहा है। सोवियत संघ के विघटन के बाद से इस भ्रम के फैलने का आधार और भी ज़्यादा मजबूत हुआ है। परन्तु जब हम सतह पर दिखने वाले आभासी यथार्थ को भेदकर वास्तविक यथार्थ तक पहुँचकर किसी परिघटना का विश्लेषण करने वाले मार्क्सवादी विज्ञान की रोशनी में अमेरिकी साम्राज्यवाद के वर्चस्व की पड़ताल करते हैं तो पाते हैं कि द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अस्तित्व में आया अमेरिकी साम्राज्यवादी वर्चस्व 1970 के दशक की शुरुआत में डॉलर-गोल्ड मानक के ढहने के साथ ही ढलान पर बढ़ चुका था और समय बीतने के साथ ही साथ ही विश्व पूँजीवादी व्यवस्था में उसका वर्चस्व लगातार कम होता आया है।

विश्व पूँजीवाद में अमेरिकी वर्चस्व के ह्रास को चन्द आँकड़ों के ज़रिये आसानी से समझा जा सकता है। विश्व बैंक द्वारा जारी आँकड़ों के अनुसार जहाँ 1960 में दुनिया के सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) में अमेरिका का हिस्सा 38.4 था वहीं 2012 में यह घटकर 22.5 प्रतिशत रह गया। ग़ौरतलब है कि द्वितीय विश्वयुद्ध के तुरन्त बाद जीडीपी में अमेरिका की हिस्सेदारी 56.4 प्रतिशत थी। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद से दुनिया के जीडीपी में जर्मनी, फ्रांस एवं इटली की हिस्सेदारी बढ़ी, हालाँकि पिछले डेढ़ दशकों में इन साम्राज्यवादी देशों की हिस्सेदारी कम हुई है। हाल के वर्षों में चीन ने विश्व पूँजीवादी उत्पादन में अपनी हिस्सेदारी अभूतपूर्व रूप से बढ़ायी है। यही नहीं अमेरिकी अर्थव्यवस्था में अधिकांश निवेश वित्तीय सेवा क्षेत्र में ही हुआ है जो उसके परजीवी चरित्र की निशानी है। संयुक्त राष्ट्र के आँकड़े के अनुसार मैन्युफैक्चरिंग क्षेत्र में पिछले 40 वर्षों में अमेरिकी अर्थव्यवस्था की हिस्सेदारी 26 प्रतिशत से घटकर 20 प्रतिशत रह गई।

फ़ोर्ब्स द्वारा हर वर्ष जारी दुनिया की शीर्ष की 2000 बहुराष्ट्रीय कम्पनियों पर आधारित एक अध्ययन में **क्रिश्चियन फुक्स** ने यह दिखाया है कि किस प्रकार 2004 और 2014 के बीच संख्या, परिसम्पत्ति और मुनाफ़े के लिहाज़ से अमेरिकी (व यूरोपीय) कम्पनियों की तुलना में चीनी कम्पनियों की ताक़त आश्चर्यजनक रूप से बढ़ी है।

	2004	**2014**
शीर्ष की 2000 कम्पनियों में चीन की बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ	49	207
शीर्ष की 2000 कम्पनियों में अमेरिका की बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ	751	563
चीन की परिसम्पत्तियों का हिस्सा	1.1%	13.7%
चीन के मुनाफ़े का हिस्सा	3.6%	14.3%
उत्तरी अमेरिका और यूरोप की परिसम्पित्तियों का हिस्सा	77.4%	63.1%
उत्तरी अमेरिका और यूरोप के मुनाफ़े का हिस्सा	77.4%	63.1%

प्रभात पटनायक जैसे अर्थशास्त्री जब अन्तरराष्ट्रीय वित्तीय पूँजी के वर्चस्व की बात करते हैं या जब लियो पैनिच और सैम गिन्डिन जैसे बुद्धिजीवी अनौपचारिक अमेरिकी वित्तीय साम्राज्य की बात करते हैं तो वे साम्राज्यवाद के मौजूदा दौर में तमाम देशों की वित्तीय पूँजी की आपसी प्रतिस्पर्द्धा को नज़रअन्दाज़ करते हैं।

प्रतिस्पर्द्धाविहीन पूँजीवाद की बात मार्क्सवाद की बुनियादी समझ के विपरीत है है। जैसा कि मार्क्स ने *ग्रुंडरिस्से* में लिखा था:

''पूँजी की यह आन्तरिक प्रवृत्ति [सभी सीमाओं के पार विस्तारित होने की प्रवृत्ति] प्रतिस्पर्द्धा के रूप में किसी अन्य पूँजी द्वारा उसके ऊपर आरोपित विवशता के रूप में प्रकट होती है, जो उसे बिना किसी समानुपात के लगातार आगे बढ़ते जाने के लिए प्रेरित करती है! ...अवधारणा के तौर पर देखा जाए तो पूँजी की आन्तरिक प्रकृति और उसका आवश्यक चरित्र ही प्रतिस्पर्द्धा है जो कई पूँजियों की अन्योन्यक्रिया के रूप में प्रकट होती है और वास्तविकीकृत की जाती है, यानी आन्तरिक प्रवृत्ति बाह्य आवश्यकता के रूप में व्यक्त होती है। पूँजी कई पूँजियों के रूप में मौजूद होती है और वह केवल इसी तरह से मौजूद रह सकती है और इसलिए उसका स्व-निर्धारण अन्योन्यक्रिया के रूप में प्रकट होता है।'' **मार्क्स, ग्रुंडरिस्से (अनुवाद हमारा)**

आँकड़े भी प्रतिस्पर्द्धाविहीन पूँजीवाद के तर्क के ख़िलाफ़ गवाही दे रहे हैं। फ़ोर्ब्स द्वारा हर वर्ष जारी दुनिया की शीर्ष की 2000 कम्पनियों में बैंकिंग व वित्त क्षेत्र से जुड़ी कम्पनियों की संख्या हर साल 500 के आसपास रहती है जिसमें अमेरिकी कम्पनियों की संख्या केवल 20 प्रतिशत के आसपास ही होती है। इस सूची में अधिकांश कम्पनियाँ यूरोपीय व एशियाई देशों की होती है। 2016 की सूची में दुनिया के शीर्ष 5 कम्पनियों में 4 चीनी कम्पनियाँ थीं जबकि केवल 1 अमेरिकी कम्पनी थी। वित्तीय पूँजी के इन लुटेरे गिरोहों के बीच स्थायी एकता जैसी बात करना एक मज़ाक के समान लगता है। अन्तर्विरोधों से मुक्त किसी अन्तरराष्ट्रीय वित्तीय पूँजी की कल्पना करना या एकछत्र अमेरिकी वित्तीय साम्राज्य जैसी बात करना सच्चाई की ओर पीठ करना है।

आज के युग में अन्तर-साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा की गैरमौजूदगी या उसके मद्धिम होने की बात करने वाले विचारक यह भूल जाते हैं कि यह प्रतिस्पर्द्धा हमेशा विनाशकारी युद्धों या विश्वयुद्धों के रूप में ही नहीं अभिव्यक्त होती है। यह प्रतिस्पर्द्धा सतह के नीचे चलने वाली धारा की तरह व्यापार युद्धों, मुद्रा युद्धों, बाज़ारों पर नियन्त्रण के लिए होड़, विलय और अधिग्रहण के रूप में, अन्तरराष्ट्रीय मंचों पर कूटनीतिक चालों के रूप में लगातार मौजूद रहती है। साम्राज्यवाद के दौर में यह होड़ विश्व स्तर पर विभिन्न देशों के इज़ारेदार निगमों के बीच और तीखे रूप में होती है जिसका प्रमाण हर साल दुनिया के सभी हिस्सों में कई निगमों के अस्तित्व के ख़ात्मे और निगमों द्वारा अपने प्रतिस्पर्द्धियों के अधिग्रहण के रूप में मिलता है। आज के दौर में यह प्रक्रिया धीमी होने की बजाय पहले से कहीं ज़्यादा तीखी हो गई है। यानी साम्राज्यवाद के युग में जहाँ एक ओर पूँजी के सान्द्रण और केन्द्रीयकरण परिणति इज़ारेदारी के विकास में होती है वहीं इसकी विरोधी गति के रूप में विभिन्न इज़ारेदार संस्थाओं के बीच गलाकाटू प्रतिस्पर्द्धा भी मौजूद होती है। तमाम अकादमिक मार्क्सवादी गैर-द्वंद्वात्मक सोच के चलते केवल पहली ही गति पर ज़ोर देते हैं और दूसरी गति को पूरी तरह से नज़रअन्दाज़ कर देते हैं।

ऐसे विचारक लेनिन की वह बात भूल जाते हैं कि:

''शान्तिपूर्ण' प्रतिस्पर्द्धा के दौर खुले-आम युद्ध के दौरों के लिए राह तैयार करते हैं, और खुले आम युद्ध के दौर 'शान्तिपूर्ण' प्रतिस्पर्द्धा के दौरों के लिए राह तैयार करते हैं।''

युद्ध अन्तर-साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा का सबसे विकराल रूप होते हैं जब साम्राज्यवाद के अन्तरविरोध सतह पर दिखाई देने लगते हैं। 1991 में सोवियत संघ के नामधारी समाजवाद के पतन के बाद तमाम विचारकों ने एकध्रुवीय विश्व, अमेरिका के एकछत्र साम्राज्य और साम्राज्यवाद के अन्तरविरोधी की समाप्ति की घोषणा करनी शुरू कर दी थी। परन्तु 21वीं सदी आते-आते ऐसे दावों की हवा निकलनी शुरू हो गई जब साम्राज्यवाद के अन्तरविरोधों ने एक के बाद एक दुनिया को विनाशकारी युद्धों में झोंकना शुरू किया। पहले अफ़गानिस्तान और फिर इराक़ तथा लीबिया पर साम्राज्यवादी हमलों ने शान्ति के तमाम दावों की कलई खोल दी। आज सीरिया सहित पश्चिम एशिया के पूरे क्षेत्र जो मौत का ताण्डव मचा है उसमें साम्राज्यवाद के अन्तरविरोधों की बहुत बड़ी भमिका है।

जहाँ एक ओर अमेरिकी साम्राज्यवाद का वर्चस्व ढलान पर है वहीं दूसरी ओर पश्चिमी साम्राज्यवादी खेमे के वर्चस्व को चुनौती देता हुआ और उससे होड़ करता हुआ एक नया साम्राज्यवादी ध्रुव भी तेज़ी से उभर रहा है जिसका नेतृत्व चीन और रूस कर रहे

हैं। शंघाई कोऑपरेशन काउंसिल और ब्रिक्स जैसे पहुपक्षीय संस्थाओं का अस्तित्व में आना अपने आप में एकध्रुवीय विश्व के मिथक को खारिज कर रहा है।

विश्व पटल पर पिछले कुछ वर्षों के घटनाक्रम इस ओर साफ़ इशारा कर रहे हैं कि सतह पर दिखने वाली अमेरिका के साम्राज्यवादी वर्चस्व की एकध्रुवीयता एवं विश्व-पूँजीवाद का एकाश्मी स्वरूप के पीछे अन्तरसाम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा के तीखे होने की ज़मीन भी तैयार हो रही है। यूक्रेन व पश्चिम एशिया में जारी अस्थिरता व विनाशकारी युद्धोन्माद भी अन्तरसाम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा के तीखे होने एवं विश्व पूँजीवादी व्यवस्था में पैदा होने वाली दरारों एवं दरकनों की ही निशानी है। हाल के वर्षों में मध्यपूर्व दुनिया का सबसे अधिक हिंसाग्रस्त हिस्सा बना हुआ है। गाज़ा में इज़राइली बर्बर हमला, लीबिया व सीरिया में जारी गृहयुद्ध, इस्लामिक स्टेट का उभार, सऊदी अरब द्वारा यमन पर हमला ये सभी साम्राज्यवाद के अन्तरविरोधों के तीखे होने की निशानी हैं। दरअसल पश्चिम एशिया के देशों के शासकों एवं वहाँ की जनता के बीच अन्तरविरोध, विभिन्न देशों के शासकों के बीच के अन्तरविरोध एवं साम्राज्यवादी खेमों के बीच के अन्तरविरोध, ये तीनों एक साथ काम कर रहे हैं। अरब के मुल्कों में आम बग़ावतों पर काबू पाने की कोशिश में लगा अमेरिकी साम्राज्यवाद अपने ही बुने जाल में फँसता नज़र आ रहा है। सीरिया में रूस की सरपरस्ती वाली असद सरकार का तख़्तापलट करने के मक़सद से अमेरिका ने इस्लामिक स्टेट के आतंकियों का सहारा लिया था, लेकिन अब ये जिहादी आतंकवादी खुद अपने आका को काट खाने पर अमादा हैं। अरब के देशों में ईरान, चीन व रूस की पैठ बढ़ने से अमेरिका ख़ौफ़ज़दा है। चीन ने अरब देशों में तेल व गैस की खोज के लिए बड़े पैमाने पर पूँजी लगायी है जो अमेरिका के लिए चिन्ता का सबब है। इसी तरीके से चीन ने अफ्रीका एवं लातिन अमेरिका के देशों में तेल, गैस, लकड़ी, धातु एवं अन्य खनिज संसाधनों का दोहन करने के लिए एवं अपने मालों के लिए बाज़ार का विस्तार करने के लिए बड़े पैमाने पर पूँजी लगायी है जो अमेरिकी साम्राज्यवादी वर्चस्व को कड़ी चुनौती दे रहा है।

उधर पश्चिम में भी ब्रिटेन के यूरोपीय संघ से बाहर जाने के बाद से और अमेरिका में ट्रम्प की संरक्षणवादी नीतियों की वजह से अमेरिका और यूरोपीय संघ के गठबंधन में भी दरार के संकेत दिख रहे हैं जो भविष्य में साम्राज्यवादी समीकरणों में बदलाव की सम्भावना को बल देते हैं। जो भी हो, इतना तो तय है कि आने वाले दिनों में अन्तरसाम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा और तीखी होने वाली है। आज के दौर में पूँजी के अन्तर्भेदन और राष्ट्रपारीय निगमों के अस्तित्व में आने तथा नाभिकीय प्रतिरोधक (Nuclear deterrent) की वजह से विश्वयुद्ध की सम्भावना भले ही कम हो गई है, लेकिन आने वाले दिनों में क्षेत्रीय स्तर पर छोटे पैमाने के युद्ध और हिंसात्मक वारदातों की संख्या में निश्चय ही इज़ाफ़ा होगा।

6. नवउदारवादी भूमण्डलीकरण के दौर में साम्राज्यवादी देशों और तीसरी दुनिया के देशों के बीच के सम्बन्ध

साम्राज्यवाद जब अस्तित्व में आया तब दुनिया उपनिवेशों-अर्द्धउपनिवेशों के रूप में अलग-अलग साम्राज्यवादी ताक़तों के संरक्षित बाज़ारों में विभाजित थी। अधिकांश उपनिवेशों-अर्द्धउपनिवेशों में अभी भी प्राक्-पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्ध विद्यमान थे। हालाँकि उपनिवेशों-अर्द्धउपनिवेशों में पहले माल पूँजी और फिर मुद्रा पूँजी और उत्पादक पूँजी के निर्यात के लिए पूँजीवादी विकास ज़रूरी था, लेकिन साम्राज्यवादियों को यह डर था कि प्राक्-पूँजीवादी भूमि-सम्बन्धों के टूटते ही वर्ग-संघर्षों का उभार

उनके साम्राज्य के लिए ख़तरा उत्पन्न कर सकता था। साथ ही उपनिवेशों में पूँजीवादी विकास से ख़तरा यह भी था उससे एक स्थानीय पूँजीपति वर्ग भी जन्म लेता जो उपनिवेशों के बाज़ार में प्रतिद्वंद्वी बन सकता था और अपनी वर्गीय आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष में मध्य वर्ग, किसानों और अन्य मेहनतकश वर्गों का संश्रयकारी बन सकता था। ये वो कारक थे जो साम्राज्यवादियों को उपनिवेशों-अर्द्धउपनिवेशों में पूँजीवादी विकास की नीतियाँ लागू करने से रोक रहे थे। यही वजह थी कि 1920 में कोमिण्टर्न की दूसरी कांग्रेस में ''राष्ट्रीय और औपनिवेशिक प्रश्नों पर मसौदा थीसिस'' पेश करते हुए लेनिन ने कहा था कि औपनिवेशिक देशों पर विदेशी प्रभुत्व की वजह से वहाँ सामाजिक ताक़तों का स्वतंत्र विकास अवरुद्ध हो गया है और इसीलिए उन्होंने उपनिवेशवाद का ख़ात्मे को उपनिवेशों में क्रान्ति का पहला चरण बताया था। भविष्य में कोमिण्टर्न ने इसी लाइन को आगे बढ़ाया और चीन में नवजनवादी क्रान्ति ने इसे विस्तार दिया।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद **'डिपेन्डेंसी थियरी'**, **'वर्ल्ड सिस्टम'** और **'असमान विनिमय'** जैसे सिद्धान्त देने वाले सिद्धान्तकारों ने पश्चिम के साम्राज्यवादी देशों द्वारा तीसरी दुनिया के देशों के उत्पीड़न के पहलू पर ज़ोर देते हुए दर्शाया कि किस प्रकार साम्राज्यवादी देशों का विकास तीसरी दुनिया के देशों के विकास में बाधा बन रहा है। परन्तु चूँकि ये सिद्धान्त अल्पउपभोगवादी हैं और चूँकि वे उत्पादन सम्बन्धों की बजाय विनिमय सम्बन्धों पर ज़ोर देते हैं इसलिए उनका विश्लेषण ग़ैर-मार्क्सवादी है। वे तीसरी दुनिया के देशों की वर्गीय संरचना में आये बदलावों की अनदेखी करते हैं या उनको पर्याप्त महत्व नहीं देते जिसकी वजह से उनके सूत्रीकरण कठमुल्लावादी प्रतीत होते हैं। यही कठमुल्लापन तीसरी दुनिया के देशों को अर्द्ध-सामंती और अर्द्ध-औपनिवेशिक बताकर नजनवादी क्रान्ति के लिए संघर्ष कर रहे कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी संगठनों में भी देखा जा सकता है।

सच तो यह है कि द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद तीसरी दुनिया के देश राजनीतिक रूप से आज़ाद होने की प्रकिया शुरू होने के बाद साम्राज्यवाद के नये चौधरी अमेरिका ने **''अनौपचारिक साम्राज्य''** पर ज़ोर दिया जिसे **बिना उपनिवेशों के साम्राज्यवाद (इम्पीरियलिज्म विदाउट कॉलोनीज़)** भी कहा जाता है। अन्तरराष्ट्रीय वित्तीय पूँजी की आन्तरिक गति भी यही थी। लातिन अमेरिका के कुछ देशों में थोड़े समय के लिए अमेरिका की कठपुतली नवऔपनिवेशिक सत्ताएँ रहीं, लेकिन जल्द ही उनका भी पतन हो गया। इस प्रकार लगभग सभी उत्तर-औपनिवेशिक देशों में बुर्जुआ जनवादी सत्ताएँ कायम हुईं। परन्तु ये सत्ताएँ पहले की अपेक्षा कहीं अधिक एकीकृत विश्व बाज़ार में स्वतंत्र या स्वायत्त रूप से कोई राष्ट्रीय बुर्जुआ परियोजना लागू कर ही नहीं सकती थीं। तीसरी दुनिया के देशों के बुर्जुआ वर्ग ने शीतयुद्ध के दौरान दो महाशक्तियों के बीच प्रतिस्पर्द्धा का लाभ उठाते हुए अलग-अलग हदों तक अपनी राष्ट्रीय सम्प्रभुता का विस्तार एवं सुदृढ़ीकरण किया और अलग-अलग हदों तक क्रमश: प्राक्-पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्धों को तोड़ते हुए अपने-अपने देशों में अलग-अलग गति से पूँजीवाद का विकास किया और विश्व बाज़ार से सम्बद्ध एकीकृत राष्ट्रीय बाज़ारों का विकास किया। इस प्रकार इन देशों में अलग-अलग रूपों में एक ऐसे विशिष्ट पूँजीवाद का विकास हुआ जो साम्राज्यवाद पर निर्भर था। इस निर्भरता की वजह से साम्राज्यवादी देश अपने प्रभुत्व का लाभ उठाते हुए अपने आर्थिक संकट का ज़्यादा से ज़्यादा बोझ उनके ऊपर थोप सकते थे। राजकीय पूँजीवाद के मार्ग के संतृप्त होने के साथ ही इन देशों का बुर्जुआ वर्ग पूँजी और तकनोलॉजी की अपनी ज़रूरतों के लिए विवश था। तीसरी दुनिया के देशों में राष्ट्रीय बुर्जुआ परियोजना के विभिन्न संस्करणों (रैडिकल व नरम) का विघटन और पतन इसी प्रक्रिया का तार्किक परिणाम था। सोवियत संघ के पतन के साथ यह प्रकिया अपने निर्णायक मुकाम तक जा पहुँची। मुनाफ़े की गिरती दर और पूँजी की प्रचुरता के

संकट से ग्रस्त साम्राज्यवादी देशों का दबाव था कि तीसरी दुनिया के शासक वर्ग अपने-अपने देशों की संरक्षणवादी दीवारों को गिराकर अपने राष्ट्रीय बाज़ारों को साम्राज्यवादी पूँजी के लिए पूरी तरह से खोलें। इनमें से तमाम देशों में निर्यात को बढ़ावा देने के नाम पर भूमण्डलीकरण के दौर में लागू की गई नवउदारवादी नीतियाँ साम्राज्यवादी देशों की ज़रूरत होने के साथ ही तीसरी दुनिया के देशों के बुर्जुआ वर्ग की ज़रूरत भी थीं क्योंकि वे स्वयं राजकीय पूँजीवाद के अन्तरविरोधों से उपजे आर्थिक संकट के दौर से गुज़र रहे थे।

तीसरी दुनिया के देशो को अर्द्ध-सामन्ती और अर्द्ध-औपनिवेशिक मानने वाले तमाम क्रान्तिकारी संगठन भूमण्डलीकरण के दौर को ''उपनिवेशवाद की वापसी'' या ''नवउपनिवेशवाद'' के रूप में देखते हैं और इस प्रक्रिया में वे यांत्रिक ढंग से नवजनवादी क्रान्ति की अपनी लाइन को साबित करने की कोशिश करते हैं। वे उपनिवेशों को साम्राज्यवाद के अस्तित्व की शर्त मानते हैं और इस मायने में उनकी समझ साम्राज्यवाद-सम्बन्धी लेनिन के सिद्धान्त की बजाय रोज़ा लग्ज़ेम्बर्ग के सिद्धान्त से ज़्यादा क़रीब दिखती है। साम्राज्यवाद जब अस्तित्व में आया तब यह इतिहास के रंगमंच की सच्चाई थी कि यह दुनिया उपनिवेशों में बँटी हुई थी, लेकिन इससे यह नतीजा भला कैसे निकाला जा सकता है कि उपनिवेशों की मौजूदगी साम्राज्यवाद के अस्तित्व की शर्त है? ऐसे संगठन निहायत ही कठमुल्लावादी तरीके से तीसरी दुनिया के देशों के बुर्जुआ वर्ग को दलाल पूँजीपति बताते हैं जबकि सच्चाई यह है कि यह वर्ग विश्व स्तर पर नियोजित अधिशेष का जूनियर पार्टनर होने के साथ ही साथ अपने देश के स्तर पर निचोड़े गए अधिशेष का बड़ा हिस्सेदार है। निश्चय ही साम्राज्यवादी पूँजी और देशी पूँजी में में अन्तरविरोध भी हैं, जैसे कि बड़ी पूँजी और छोटी पूँजी के बीच भी अन्तरविरोध हैं। परन्तु ये अन्तरविरोध शत्रुतापूर्ण नहीं हैं। देशी पूँजीपति वर्ग का कोई हिस्सा साम्राज्यवाद विरोधी क्रान्ति में सर्वहारा का रणनीतिक सहयोगी नहीं बनेगा। तीसरी दुनिया के देशों के पिछड़े और कृषिप्रधान समाजों की चर्चा करते हुए वे यह भी भूल जाते हैं कि इनमें से अधिकांश देशों में खेती में श्रमिक सामन्ती बंधनों से मुक्त होकर उजरती श्रमिक बन चुका है, कृषि में माल-उत्पादन का तेज़ी से विकास चुका है, राष्ट्रीय बाज़ार निर्मित हो चुके हैं, राज्य और किसानी के बीच लगानजीवी मध्यवर्ती संस्तर का ख़ात्मा हो चुका है और किसानों में विभेदीकरण तेज़ी से बढ़ा है।

आज तीसरी दुनिया के देशों में अलग-अलग रूपों में अलग-अलग गति से पूँजीवादी विकास की प्रक्रिया जारी है। तीसरी दुनिया में चीन जैसा देश भी जिसमें उत्पादक शक्तियाँ इतनी उन्नत हो चुकी हैं कि वह साम्राज्यवादी आकांक्षाएँ पालने लगा है, तीसरी दुनिया में ही भारत, ब्राज़ील, दक्षिण अफ्रीका जैसे देश भी हैं जिनकी ताक़त साम्राज्यवादी बनने लायक तो नहीं है, लेकिन वे क्षेत्रीय स्तर पर एक प्रभुत्वशाली बुर्जुआ राष्ट्र के रूप में उभरे हैं, साथ ही तीसरी दुनिया में अफ्रीका व कैरिबियन के कतिपय सापेक्षत: पिछड़े देश भी हैं जिनमें ऐतिहासिक व भौगोलिक कारणों से पूँजीवादी विकास की दर धीमी रही है। साम्राज्यवाद के मौजूदा नवउदारवादी भूमण्डलीकरण के दौर में मुनाफ़े की गिरती दर से निजात पाने के लिए साम्राज्यवादी देशों की पूँजी ने सस्ते श्रम और कच्चे माल की तलाश में इन देशों की ओर तेज़ी से रुख किया। जैसा कि ऊपर दिखाया जा चुका है साम्राज्यवादी देशों की इज़ारेदार कम्पनियों ने या तो अपने उपक्रम इन देशों में लगाये या फिर इन देशों में पहले से ही मौजूद उपक्रमों के साथ अनुबंध किया। अतिलाभ निचोड़ने की यह प्रक्रिया में लगातार जारी है। ज़ाहिर है कि इस अतिलाभ का बड़ा हिस्सा इजारेदार साम्राज्यवादी पूँजी के पास जाता है, लेकिन उसका एक हिस्सा इन देशों के पूँजीपति वर्ग के पास भी जाता है। मिसाल के लिए स्मार्ट फ़ोन की दुनिया की सबसे बड़ी कम्पनी एप्पल ने आईफ़ोन बनाने का ठेका ताइवान की कम्पनी फ़ॉक्सकॉन को दिया है जो चीन सहित कई तीसरी दुनिया के कई देशों में मज़दूरों को निचोड़कर बेहद सस्ते दाम में आईफ़ोन

बनाती हैं जिसे दुनिया भर के बाज़ारों में बेचकर जो मुनाफ़ा होता है उसका बड़ा हिस्सा एप्पल के पास जाता है और छोटा हिस्सा फ़ॉक्सकॉन के पास जाता है। फ़ॉक्सकॉन की गिनती फ़ार्च्यून 500 कम्पनियो की सूची में अग्रणी कतार में होती है। इसी तरह से गारमेंट सेक्टर में प्रीमार्क, जेसीपेनी, एच एंड एम, वालमार्ट जैसी साम्राज्यवादी देशों की इज़ारेदार कम्पनियाँ बांग्लादेश जैसे देशों के स्थानीय मैनयुफ़ैक्चरर्स के ज़रिये बेहद सस्ती दरों में गारमेंट का उत्पादन करवाती हैं जहाँ काम की परिस्थितियाँ अमानवीय होती हैं। इस प्रकार हम पाते हैं कि आज के दौर में तीसरी दुनिया के बुर्जुआ वर्ग के हित साम्राज्यवादियों के हित से जुड़ गए हैं।

निष्कर्ष के तौर पर कुछ बातें

हालाँकि पूँजीवाद के जन्मकाल से ही पूँजी का अन्तरराष्ट्रीय चरित्र रहा है, परन्तु भूमण्डलीकरण का मौजूदा दौर युग पूँजी के अन्तरराष्ट्रीयकरण की प्रक्रिया में इस मायने में महत्वपूर्ण है कि पूँजी के तीनों परिपथों – माल पूँजी, मुद्रा पूँजी और उत्पादक पूँजी के परिपथ – के अन्तरराष्ट्रीयकरण की प्रक्रिया में अभूतपूर्व तेज़ी आई है। हालाँकि यह भी सच है कि जिस रफ़्तार से पूँजी का भूमण्डलीकरण हुआ है उस रफ़्तार से श्रम का भूमण्डलीकरण हरगिज़ नहीं हुआ है। लेनिन द्वारा चिह्नित की गई साम्राज्यवाद की बुनियादी अभिलाक्षणिकताएँ अभी तक बरकरार हैं, इसलिए आज भी हम साम्राज्यवाद के ही युग में जी रहे हैं। परन्तु उत्पादन और वित्त का अभूतपूर्व भूमण्डलीकरण, पूँजी संचय के तौर-तरीकों में अहम बदलाव होना, वित्तीय पूँजी का अन्तरराष्ट्रीय चरित्र, दैत्याकार राष्ट्रपारीय निगमों का अस्तित्व में आना और दुनिया के कोने-कोने में पूँजी की मार से प्राक्-पूँजीवादी संरचनाओं का छिन्न-भिन्न होकर पूँजीवादी रूपान्तरण होना इसका सूचक है कि लेनिन के दौर की तुलना में आज के दौर में बेहद अहम बदलाव हुए हैं। लेनिन ने ठीक ही साम्राज्यवाद को **पूँजीवादी की उच्चतम अवस्था** कहा था। आज के दौर को **साम्राज्यवाद का उच्चतम चरण** कहना ग़लत नहीं होगा। जिस तर्क के आधार पर लेनिन ने साम्राज्यवाद को सर्वहारा क्रान्ति की पूर्वबेला कहा था, उसी तर्क से आज यह कहा जा सकता है कि भूमण्डलीकरण में उत्पादन के अभूतपूर्व सामाजिकीकरण और अधिशेष के मुट्ठी भर लोगों द्वारा हड़पा जाना समूची साम्राज्यवादी व्यवस्था सर्वहारा क्रान्ति और समाजवाद के लिए ज़्यादा से ज़्यादा मुफ़ीद ज़मीन तैयार कर रही है। वित्तीय पूँजी विश्वव्यापी प्रभुत्व के इस दौर का पूँजीवाद पहले के किसी भी दौर की तुलना में ज़्यादा परजीवी, ज़्यादा मानवद्रोही और ज़्यादा अस्थिरता पैदा करने वाला है। पूँजीवाद का मौजूदा संकट 1970 के दशक से ही जारी। यानी रोगी 1970 के दशक से ही मृत्युशैय्या पर है, बीच-बीच में सट्टेबाजी के इंजेक्शन से उसमें थोड़ी जान आ जाती है, लेकिन इंजेक्शन का असर ख़त्म होते ही रोगी की हालत पहले से भी बदतर हो जाती है। मौजूदा संकट तुलनात्मक रूप से अधिक दीर्घकालिक है और अतीत के संकटों की तुलना में मौजूदा संकट इस मायने में भी विशिष्ट है कि भूमण्डलीकरण की वजह से इसका असर विश्वव्यापी है जिसकी वजह से इसका स्वरूप कहीं ज़्यादा ढाँचागत और व्यवस्थागत है। ज़ाहिर है कि अपनी सैन्य शक्तिमत्ता की बदौलत ऊपर से ख़ौफ़नाक दिखता साम्राज्यवादी बाघ आज पहले से कहीं ज़्यादा क़ाग़ज़ी है।

लेनिन का कमज़ोर कड़ी का सिद्धान्त आज की दुनिया पर भी लागू होता है, आज तीसरी दुनिया के देशों में पूँजी का बर्बरतम रूप सामने आ रहा है ज़ाहिर है कि जहाँ सबसे ज़्यादा दबाव होता है, विस्फ़ोट की संभावना वहीं सबसे ज़्यादा होती है। आज लातिन अमेरिका, एशिया एवं अफ्रीका के ही देशों में ही **'हॉटस्पॉट'** के **'फ्लैशप्वाइंट'** की ओर बढ़ते हुए क्रान्ति को अंजाम देने की संभावना सबसे अधिक है। लेकिन जहाँ एक ओर विश्व पूँजीवाद मरणासन्न अवस्था में अपने अन्तकारी व्यवस्थागत

संकट से जूझ रहा है और क्रान्ति की वस्तुगत परिस्थितियाँ तैयार हो रही हैं, वहीं दूसरी दुनिया के विभिन्न हिस्सों में व्यवस्था के संकट का लाभ धुर-दक्षिणपंथी, अर्द्ध-फ़ासिस्ट व नव-फ़ासिस्ट ताक़तें उठा रही हैं जो समूचे समाज को फ़ासीवाद की नर्सरी बनाने में क़ामयाब हो रही हैं। इसकी वजह यह है कि पूँजीवाद को उसकी कब्र तक पहुँचाने के लिए आवश्यक मनोगत ताक़तें भी अपने संकट से गुज़र रही हैं। इस संकट की मूल में दुनिया भर में मज़दूर आन्दोलन के संकट में व्याप्त कठमुल्लापन है। आज दुनिया के अधिकांश कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी संगठन व पार्टियाँ तीसरी दुनिया के देशों को अर्द्धसामंती-अर्द्धऔपनिवेशिक मानते हुए द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद तीसरी दुनिया में विऔपनिवेशीकरण के बाद हुए पूँजीवादी विकास के फलस्वरूप उन समाजों की वर्गीय संरचना के आए परिवर्तनों की अनदेखी करने की ज़िद पर अड़े हुए हैं। लेकिन उनकी इस ज़िद के बावजूद समय बीतने के साथ ही साथ यह सच्चाई दिन के उजाले की तरह साफ़ होती जा रही है कि तीसरी दुनिया के तमाम देशों में स्वाधीनता के बाद सत्ता में जाए बुर्जुआ वर्ग इन अहम बदलावों के चलते क्रान्ति की मंजिल नवजनवादी क्रान्ति से आगे बढ़कर पूँजीवाद-साम्राज्यवाद विरोधी नयी समाजवादी क्रान्ति हो चुकी है जिसके फलस्वरूप सर्वहारा क्रान्ति का रणनीतिक वर्ग संश्रय बदल चुका है। इसलिए आज के दौर में **तीसरी दुनिया के बुर्जुआ वर्ग की हैसियत साम्राज्यवाद के जूनियर पार्टनर की है, यानी न तो वह साम्राज्यवाद का दलाल है और न ही उसका कोई भी हिस्सा सर्वहारा क्रान्ति का पक्षधर होगा।**

सन्दर्भ सूची

[1] http://unctadstat.unctad.org.

[2] POST-FORDISM, GLOBAL PRODUCTION NETWORKS AND IMPLICATIONS FOR LABOUR Some Case Studies from National Capital Region, India: Praveen Jha and Amit Chakraborty

[3] Fuchs, Christian. 2016b. Digital Labor and Imperialism. Monthly Review 67 (8): 14-24)

[4] लेनिन, साम्राज्यवाद: पूँजीवाद की उच्चतम अवस्था

[5] Karl Marx, *Capital*, vol. 1 (London: Penguin, 1976), 777-80.

[6] http://www.globaljustice.org.uk/news//2016sep/-10/12biggest-corporations-make-more-money-most-countries-world-combined

[7] https://www.cultofmac.com//105623amazing-apples-cash-on-hand-is-more-than-the-gdp-of-almost-23rds-of-the-worlds-countries/

[8] https://www.publicintegrity.org//5982/19/11/2007top--100contractors-iraq-afghanistan)

[9] Boron,Empire and Imperialism, 46.

पुस्तक सूची

- Ahmet H. Kose, Fikret Senses, Erinc Yeldan, "Neoliberal Globalization as New Imperialism Case Studies on Reconstruction of the Periphery"
- Alan Freeman, Boris Kagarlitsky, "The Politics of Empire Globalisation in Crisis"
- Annabelle Mooney, Betsy Evans, "Globalization The Key Concepts"
- BEN FINE and LAURENCE HARRIS, "Rereading Capital" New York Columbia University Press 1979
- Benjamin J. Cohen auth. "The Question of Imperialism The Political Economy of Dominance and Dependence"
- Berch Berberoglu, "Globalization in the 21st Century Labor, Capital, and the State on a World Scale"
- Bruno Amoroso "On Globalization Capitalism in the 21st Century"
- Charles A. Barone auth. "Marxist Thought on Imperialism Survey and Critique"
- David Held, Anthony McGrew "The Global Transformations Reader An Introduction to the Globalization Debate"
- David Renton "Marx on Globalization"
- Eric Hobsbawm,"On the edge of of a new century"
- Ernesto Screpanti, "Global Imperialism and the Great Crisis"
- Frank J. Lechner ed., John Boli ed. "The Globalization Reader"
- George Ritzer ed. "The Blackwell Companion to Globalization"
- George Ritzer "Globalization The Essentials"
- RECONSIDERING GLOBALIZATION AS THE INTERNATIONALIZATION OF CAPITAL: IMPLICATIONS FOR UNDERSTANDING STATE RESTRUCTURING Sebnem Oguz, PhD Candidate, Department of Political Science, York University, Toronto, Canada
- Harry Magdoff "Imperialism From the Colonial Age to the Present"
- Harvey - Globalization in Question
- John Bellamy Foster, "Naked Imperialism The U.S. Pursuit of Global Dominance"
- John Smith "Imperialism in the Twenty-First Century Globalization, Super-Exploitation, and Capitalism's Final Crisis"
- James Petras and Henry Veltmeyer, "Globalisation Unmasked"
- James Petras and Henry Veltmeyer, "Empire with imperialism"
- Jonathan Michie, "The Handbook of Globalisation"
- Leo Panitch, Colin Leys, Alan Zuege & Martijn Konings (Eds) "The globalisation decade:A Critical Reader"
- Lucia Pradella, "Globalization and the Critique of Political Economy New Insights from Marxs Writings"
- Michael Roberts, "The Long Depression Marxism and the Global Crisis of Capitalism"
- Ngaire Woods "The Political Economy of Globalization"
- Nikolai Bukharin, "Imperialism and World Economy"
- "THE POULANTZAS READER, Marxism, Law and the State"
- Kavaljit Singh , "Questioning Globalization" MADHYAM BOOKS Delhi and ZED BOOKSLondon & New York
- Samir Amin "Capitalism in the Age of Globalization The Management of Contemporary Society
- W. I. Robinson and Jerry Harris, "Towards A Global Ruling Class? Globalization and the Transnational Capitalist Class" Published in Science & Society, Vol. 64, No. 1, Spring 2000, 11–5411
- CONCEPTUALIZING THE INTERNATIONALIZATION
- OF CAPITAL from Christian Palloix, L'internationalisation du
- capital, Paris, Maspero, 1975.
- Rethinking globalisation Martin khor
- Ronaldo Munck "Globalisation and labor new great transformation"